ज्ञान मीमांसा

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं 341306
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं : (01581) 226080,224671
ई-मेल : books@jvbharati.org

Books are available online at
https://books.jvbharati.org

© जैन विश्व भारती, लाडनूं
द्वितीय संस्करण : जनवरी 2021 (1000 प्रातियां)
मूल्य : नब्बे रुपये मात्र
मुद्रक : श्री वर्द्धमान प्रेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

Jain Darshan : Manan Mimansa (Gyan Mimansa) By Acharya Mahapragya ₹ 90/-

पुरोवाक्

हमारी दुनिया में दो ही तत्त्व विद्यमान हैं—जीव और अजीव। इस तत्त्वद्वयी का निरूपण ज्ञानी पुरुषों ने अपनी-अपनी भाषा और शैली में किया है। इस तत्त्वद्वयी के निरूपण के आधार पर अनेक दर्शन अस्तित्व में आ गए। उन विभिन्न दर्शनों में एक है जैन दर्शन। इस दर्शन को प्रस्तुत करने के लिए अनेक जैन आचार्यों और मनीषियों ने अपनी प्रज्ञा का उपयोग किया है।

परमपूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एक मनीषी संत थे। उनके अदुष्य वैदुष्य ने अनेक-अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। उनमें से एक ग्रंथ हैं—'जैन दर्शन : मनन और मीमांसा' मेरी दृष्टि में जैन दर्शन और जैन धर्म को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने वाला यह एक सामादरणीय ग्रंथ है।

प्रस्तुत ग्रंथ अनेक विभागों से समन्वित है। उसका एक विभाग है आचार मीमांसा। इस पुस्तक में आचार मिमांसा का विभाग पाठक को प्राप्त हो सकेगा। आचार-मीमांसा के विद्यार्थी इस किताब के अध्ययन से अपनी ज्ञान-पिपासा को कुछ शान्त करने का, कुछ और जगाने का सुंदर अवसर प्राप्त करें।

शुभाशंसा।

कोयम्बत्तूर
6 फरवरी 2019

आचार्य महाश्रमण

खंड- 4 : ज्ञान-मीमांसा

1. ज्ञान-मीमांसा

1. चेतना का स्वरूप और व्यवहार
2. ज्ञान क्या है?
3. ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है?
4. ज्ञान और ज्ञेय का संबंध
5. ज्ञान, दर्शन और संवेदना
6. ज्ञान और वेदना
7. वेदना के दो रूप : सुख-दुःख
8. ज्ञान के विभाग
9. केवलज्ञान की परिभाषा
10. मतिज्ञान
    - ✻ इन्द्रिय चतुष्टय
    - ✻ इन्द्रिय प्राप्ति का क्रम
    - ✻ इन्द्रिय व्याप्ति
11. मन
    - ✻ मन का लक्षण
    - ✻ मन का कार्य
    - ✻ मन का अस्तित्व
    - ✻ मन का विषय
    - ✻ इन्द्रिय और मन
    - ✻ मन का स्थान
12. श्रुतज्ञान
13. श्रुत ज्ञान की प्रक्रिया
14. मति-श्रुत की साक्षरता और अनक्षरता
15. कार्य-कारण भाव
16. अवधि-ज्ञान
17. मनःपर्यव ज्ञान
18. अवधि और मनःपर्याय की स्थिति
19. केवलज्ञान
20. ज्ञेय और ज्ञान-विभाग
21. ज्ञान की नियामक शक्ति
22. ज्ञाता और ज्ञेय का संबंध
23. ज्ञान-दर्शन विषयक तीन मान्यताएं
24. ज्ञेय-अज्ञेयवाद
25. नियतिवाद
26. सर्वज्ञता का पारंपर्य-भेद

2. मनोविज्ञान

1. मनोविज्ञान का आधार
2. त्रिपुटी का स्वरूप
    - ✻ आत्मा
    - ✻ कर्म
    - ✻ नो-कर्म
3. शरीर और चेतना का संबंध
4. शरीर की बनावट और चेतना का विकास
5. मन क्या है?
6. शरीर और मन का पारस्परिक प्रभाव
7. इन्द्रिय और मन का ज्ञानक्रम
8. इन्द्रिय और मन की सापेक्ष-निरपेक्ष वृत्ति
9. मन इन्द्रिय है या नहीं?
10. मानसिक अवग्रह
11. मन की व्यापकता
12. विकास का तरतमभाव

13. इन्द्रिय और मन का विभाग-क्रम तथा प्राप्ति-क्रम
14. ज्ञान और संवेदन
15. संज्ञाएं
    ✻ आहार-संज्ञा
    ✻ भय-संज्ञा
    ✻ मैथुन-संज्ञा
    ✻ परिग्रह-संज्ञा
    ✻ ओघ-संज्ञा
    ✻ लोक-संज्ञा
16. कषाय
17. नो-कषाय
18. उपयोग के दो प्रकार
19. अव्यक्त और व्यक्त चेतना
20. मानसिक विकास
21. बुद्धि का तरतमभाव
22. मानसिक योग्यता के तत्त्व
23. चेतना की विभिन्न प्रवृत्तियां
24. स्वप्न-विज्ञान
25. भावना
26. श्रद्धान
27. लेश्या
28. ध्यान

1. ज्ञान-मीमांसा

चेतना का स्वरूप और व्यवहार

आत्मा सूर्य की तरह प्रकाश स्वभाव होती है। उसके प्रकाश-चेतना के दो रूप बनते हैं–आवृत और अनावृत। अनावृत-चेतना अखंड, एक, विभाग शून्य और निरपेक्ष होती है।[१] कर्म से आवृत चेतना के अनेक विभाग बन जाते हैं। उनका आधार ज्ञानावरण कर्म के उदय और विलय का तारतम्य होता है। वह अनंत प्रकार का होता है, इसलिए चेतना के भी अनंत रूप बन जाते हैं, किंतु उसके वर्गीकृत रूप चार हैं–मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय।

मति–इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान–वार्तमानिक ज्ञान।

श्रुत–शास्त्र और परोपदेश–शब्द के माध्यम से होने वाला त्रैकालिक मानसज्ञान।

अवधि–इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मशक्ति से होने वाला ज्ञान।

मनःपर्याय–परचित्त-ज्ञान।

इनमें पहले दो ज्ञान परोक्ष हैं और अंतिम दो प्रत्यक्ष। ज्ञान स्वरूपतः प्रत्यक्ष ही होता है। बाह्यार्थ ग्रहण के समय वह प्रत्यक्ष और परोक्ष–इन दो धाराओं में बंट जाता है।

ज्ञाता ज्ञेय को किसी माध्यम के बिना जाने तब उसका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और माध्यम के द्वारा जाने तब परोक्ष।

आत्मा प्रकाश-स्वभाव है, इसलिए उसे अर्थ-बोध में माध्यम की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए, किंतु चेतना का आवरण बलवान होता है, तब वह आवृत हुए बिना नहीं रहती। मति ज्ञान पौद्गलिक इन्द्रिय और पौद्गलिक मन के माध्यम से होता है। श्रुत ज्ञान शब्द और संकेत के माध्यम से होता है, इसलिए ये दोनों परोक्ष हैं।

अवधि ज्ञान इन्द्रिय और मन का सहारा लिए बिना ही पौद्गलिक पदार्थों को जान लेता है। आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान में सामीप्य और दूरी, भींत आदि का आवरण, तिमिर और कुहासा–ये बाधक नहीं बनते।

मनःपर्याय ज्ञान दूसरों की मानसिक आकृतियों को जानता है।[२] समनस्क प्राणी जो चिंतन करते हैं, उस चिंतन के अनुरूप आकृतियां बनती हैं।[३] इन्द्रिय और मन उन्हें साक्षात् नहीं

१. उत्तरज्झयणाणि, २९/७१।

२. नंदी, सूत्र २४–मणपज्जवणाणं पुण जणमणपरिचिंतियत्थपागडणं।

३. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८१४ वृत्ति : मनोद्रव्यस्थितानेव जानाति, न पुनश्चिंतनीय–बाह्यघटादि वस्तुगतानिति।

जान सकते। इन्हें चेतोवृत्ति का ज्ञान सिर्फ आनुमानिक होता है।[१] परोक्ष ज्ञान शरीर की स्थूल चेष्टाओं को देखकर अंतर्वर्ती मानस प्रवृत्तियों को समझने का यत्न करता है। मनःपर्यवज्ञानी उन्हें साक्षात् जान जाता है।[२]

मनःपर्यवज्ञानी को इस प्रयत्न में अनुमान करने के लिए मन का सहारा लेना पड़ता है। वह मानसिक आकृतियों का साक्षात्कार करता है, किंतु मानसिक विचारों का साक्षात्कार नहीं करता। इसका कारण यह है—मूर्त और अमूर्त।[३] पुद्‌गल मूर्त है और आत्मा अमूर्त।[४] अनावृत चेतना को इन दोनों का साक्षात्कार होता है। आवृत चेतना सिर्फ मूर्त पदार्थ का ही साक्षात्कार कर सकती है। मनःपर्याय ज्ञान आवृत चेतना का एक विभाग है, इसलिए वह आत्मा की अमूर्त मानसिक परिणति को साक्षात् नहीं जान सकता। वह इस (आत्मिक मन) के निमित्त से होने वाली मूर्त मानसिक परिणति (पौद्‌गलिक मन की परिणति) को साक्षात् जानता है और मानसिक विचारों को उसके द्वारा अनुमान से जानता है।[५] मानसिक विचार और उनकी आकृतियों के अविनाभाव से यह ज्ञान पूरा बनता है। इसमें मानसिक विचार अनुमेय होते हैं, फिर भी यह ज्ञान परोक्ष नहीं है। कारण कि मानसिक विचारों को साक्षात् जानना मनःपर्याय ज्ञान का विषय नहीं। उसका विषय है मानसिक आकृतियों को साक्षात् जानना। उन्हें जानने के लिए इसे दूसरे पर निर्भर नहीं होना पड़ता। इसलिए यह आत्म-प्रयत्क्ष ही है। मनःपर्याय ज्ञान जैसे मानसिक पर्यायों (ज्ञेय-विषयक अध्यवसायों) को अनुमान से जानता है, वैसे ही मन द्वारा चिंतनीय विषय को भी अनुमान से जानता है।[६]

ज्ञान क्या है?

जो आत्मा है, वह जानता है। जो जानता है, वह आत्मा है।[७]

आत्मा और अनात्मा में अत्यंताभाव है। आत्मा कभी अनात्मा नहीं बनता और अनात्मा कभी आत्मा नहीं बनता।

आत्मा भी द्रव्य है और अनात्मा भी द्रव्य है।[८] दोनों अनंत गुण और पर्यायों के अविच्छिन्न-समुदय हैं।[९] सामान्य गुण से दोनों अभिन्न भी हैं। वे भिन्न हैं विशेष गुण से। वह (विशेष गुण) चैतन्य है। जिसमें चैतन्य है, वह आत्मा है और जिसमें चैतन्य नहीं है, वह अनात्मा है।[१०]

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८१४ : दव्वमणोपज्जाए जाणइ पासइ य तग्गएणंते।
तेणावभासिए उण जाणइ बज्झाणुमाणेणं॥

२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १३६ वृत्ति : यथा प्राकृतोलोकः स्फुटमाकारैर्मानसं भावं जानाति, तथा मनः पर्यवज्ञान्यपि मनोद्रव्यगतानाकारानवलोक्य तं तं मानसं भावं जानाति।

३. ठाणं, २/१—सरूवी चेव अरूवी चेव।

४. उत्तरज्झयणाणि, ३६/४, ६६

५. नंदी, सूत्र २१ वृत्ति : इह मनस्त्वपरिणतैः स्कन्धैरालोचितं बाह्यमर्थं घटादिलक्षणं साक्षादध्यक्षतो मनःपर्यवज्ञानी न जानाति, किंतु मनोद्रव्याणामेव तथारूपपरिणामान्यथानुपपत्तितोऽनुमानतः।

६. तत्त्वार्थसूत्र १/९, वृत्ति, पृ. ७०

७. आयारो, ५/१०४ : जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।

८. भगवई, २५/१०९

९. उत्तरज्झयणाणि, २८/६

१०. उत्तरज्झयणाणि, २८/६

प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणों की दृष्टि से आत्मा चित्-स्वरूप नहीं है। वह चैतन्य की दृष्टि से ही चित्-स्वरूप है।[१] इसीलिए कहा है—आत्मा ज्ञान से भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है, किंतु भिन्नाभिन्न है-भिन्न भी है और अभिन्न भी है।[२] ज्ञान आत्मा ही है, इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है।[३] ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी है-ज्ञान सरीखे अनंत गुणों का समूह है, इसलिए गुण और गुणी के रूप में ये भिन्न भी हैं।

आत्मा जानता है और ज्ञान जानने का साधन है। कर्ता और कारण की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं।[४]

तात्पर्य की भाषा में आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है।

ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है?

ज्ञेय और ज्ञान—दोनों स्वतंत्र हैं। ज्ञेय हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय। ज्ञान आत्मा का गुण है। न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञान से ज्ञेय। हमारा ज्ञान जाने या न जाने, फिर भी पदार्थ अपने रूप में अवस्थित हैं। यदि वे हमारे ज्ञान की ही उपज हों तो उनकी असत्ता में उन्हें जानने का हमारा प्रयत्न ही क्यों होगा? हम अदृष्ट वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकते।

पदार्थ ज्ञान के विषय बनें या न बनें, फिर भी हमारा ज्ञान हमारी आत्मा में अवस्थित है। यदि हमारा ज्ञान पदार्थ की उपज हो तो वह पदार्थ का ही धर्म होगा। हमारे साथ उसका तादात्म्य नहीं हो सकेगा।

वस्तुस्थिति यह है कि हम पदार्थ को जानते हैं, तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, किंतु वह उसका प्रयोग है। ज्ञान या जानने की क्षमता हममें विकसित रहती है, किंतु ज्ञान की आवृत दशा में हम पदार्थ को माध्यम के बिना जान नहीं सकते। हमारे शारीरिक इन्द्रिय और मन अचेतन हैं। इनसे पदार्थ का संबंध या सामीप्य होता है, तब वे हमारे ज्ञान को प्रवृत्त करते हैं और ज्ञेय जान लिए जाते हैं। अथवा हमारे अपने संस्कार किसी पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान को प्रेरित करते हैं, तब वे जाने जाते हैं। यह ज्ञान की उत्पत्ति नहीं, किंतु प्रवृत्ति है। शत्रु को देखकर बंदूक चलाने की इच्छा हुई और चलाई—यह शक्ति की उत्पत्ति नहीं, किंतु उसका प्रयोग है। मित्र को देखकर प्रेम उमड़ आया—यह प्रेम की उत्पत्ति नहीं, उसका प्रयोग है। यही स्थिति ज्ञान की है। विषय के सामने आने पर वह उसे ग्रहण कर लेता है। यह प्रवृत्ति मात्र है। जितनी ज्ञान की क्षमता होती है, उसके अनुसार ही वह जानने में सफल हो सकता है।

हमारा ज्ञान इन्द्रिय और मन के माध्यम से ही ज्ञेय को जानता है। इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। वे अपने-अपने विषयों को मन के साथ संबंध स्थापित कर ही जान सकती हैं। मन

१. स्वरूपसंबोधन, ३ : प्रेमयत्वादिभिर्धर्मैः, अचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्मात् चेतनाचेतनात्मकः॥

२. वही, ४ : ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथञ्चन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोयमात्मेति कीर्त्तितः॥

३. भगवई, १२/२०६: णाणे पुण से णियमं आया।

४. आयारो, ५/१०४ : जेण विजाणति से आया।

का संबंध एक साथ एक इन्द्रिय से ही होता है। इसलिए एक काल में एक पदार्थ का एक पर्याय ही जाना जा सकता है। इसलिए ज्ञान को ज्ञेयाकार मानने की भी आवश्यकता नहीं होती। उक्त सीमा आवृत ज्ञान के लिए है। अनावृत ज्ञान से एक साथ सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं।

सहज तर्क होगा कि एक साथ सभी को जानने का अर्थ है किसी को भी न जानना।

जिसे जानना है, उसे ही न जाना जाए और सब-के-सब जाने जाएं तो व्यवहार कैसे निभे? यह ज्ञान का सांकर्य है।

जैन दृष्टि के अनुसार इसका समाधान यह है कि पदार्थ अपने-अपने रूप में हैं, वे संकर नहीं बनते। अनंत पदार्थ हैं और ज्ञान के पर्याय भी अनंत हैं। अनंत के द्वारा अनंत का ग्रहण होता है, यह सांकर्य नहीं है।

वाणी में एक साथ एक ही ज्ञेय के निरूपण की क्षमता है। उसके द्वारा अनेक ज्ञेय के निरूपण की मान्यता को संकर कहा जा सकता है, किंतु ज्ञान की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। इसलिए ज्ञान की अनंत पर्यायों के द्वारा अनंत ज्ञेयों को जानने में कोई बाधा नहीं आती। विषय के स्थूल रूप या वर्तमान पर्याय का ज्ञान हमें इन्द्रियों से मिलता है, उसके सूक्ष्म रूप या भूत और भावी पर्यायों की जानकारी मन से मिलती है। इन्द्रियों में कल्पना, संकलन और निष्कर्ष का ज्ञान नहीं होता। मन दो या उनसे अधिक बोधों को मिला कल्पना कर सकता है। वह अनेक अनुभवों को जोड़ सकता है और उनके निष्कर्ष निकाल सकता है। इसीलिए यह सत्य नहीं है कि ज्ञान विषय से उत्पन्न होता है या उसके आकार का ही होता है। इन्द्रिय का ज्ञान बाहरी विषय से प्राप्त होता है। मन का ज्ञान बाहरी विषय से भी प्राप्त होता है और उसके बिना भी। हमारा प्रयोजन ज्ञेय को जानना ही होता है, तब पदार्थ ज्ञेय और हमारा ज्ञान उपयोग होता है और जब हमारा उपयोग प्राप्त बोध की आलोचना में लगता है तब पदार्थ ज्ञेय नहीं होता। उस समय पहले का ज्ञान ही ज्ञेय बन जाता है और जब हमारे जानने की प्रवृत्ति नहीं होती, तब हमारा उपयोग वापस ज्ञान बन जाता है–ज्ञेय के प्रति उदासीन हो अपने में ही रम जाता है।

ज्ञान और ज्ञेय का संबंध

ज्ञान और ज्ञेय का 'विषय-विषयी भाव' संबंध है। जैन दृष्टि के अनुसार–

१. ज्ञान अर्थ में प्रविष्ट नहीं होता, अर्थ ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता।

२. ज्ञान अर्थाकार नहीं है।

३. ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं है।

४. ज्ञान अर्थ रूप नहीं है।

तात्पर्य कि इनमें पूर्ण अभेद नहीं है। प्रमाता ज्ञान स्वभाव होता है, इसलिए वह विषयी है। अर्थ ज्ञेय स्वभाव होता है, इसलिए वह विषय है। दोनों स्वतंत्र हैं, फिर भी ज्ञान में अर्थ को जानने की और अर्थ में ज्ञान के द्वारा जाने जा सकने की क्षमता है। वही दोनों के कथंचित् अभेद की हेतु है।

ज्ञान, दर्शन और संवेदना

चैतन्य के तीन प्रधान रूप हैं–जानना, देखना और अनुभूति करना। चक्षु के द्वारा देखा जाता है, शेष इन्द्रिय और मन के द्वारा जाना जाता है। यह हमारा व्यवहार है।

सिद्धांत कहता है–जैसे चक्षु का दर्शन है, वैसे अचक्षु (शेष इन्द्रिय और मन) का भी दर्शन है। अवधि और केवल का भी दर्शन है।[१]

शेष इन्द्रिय और मन के द्वारा जाना जाता है, वैसे चक्षु के द्वारा भी जाना जाता है। चक्षु का ज्ञान भी है।

दर्शन का अर्थ देखना नहीं है। दर्शन का अर्थ है–एकता या अभेद का ज्ञान। ज्ञान का अर्थ अपने आप सीमित हो गया। अनेकता या भेद को जानना ज्ञान है। ज्ञान पांच हैं[२] और दर्शन चार।[३] मनःपर्याय ज्ञान भेद को ही जानता है, इसलिए उसका दर्शन नहीं होता।

विश्व न तो सर्वथा विभक्त है और न सर्वथा अविभक्त। वह गुण और पर्याय से विभक्त भी है, द्रव्यगत-एकता से अविभक्त भी है। आवृत ज्ञान की क्षमता कम होती है, इसलिए उसके द्वारा पहले द्रव्य का सामान्य रूप जाना जाता है, फिर उसके विभिन्न परिवर्तन और उसकी क्षमता जानी जाती है।

अनावृत ज्ञान की क्षमता असीम होती है। इसलिए उसके द्वारा पहले द्रव्य के परिवर्तन और उनकी क्षमता जानी जाती है, फिर उनकी एकता।

केवली पहले क्षण में अनंत शक्तियों का पृथक्-पृथक् आकलन करते हैं और दूसरे क्षण में उन्हें द्रव्यत्व की सामान्य सत्ता में गुंथे हुए पाते हैं। इस प्रकार केवल ज्ञान और केवल दर्शन का क्रम चलता रहता है।

हम लोग एक क्षण में कुछ भी नहीं जान सकते। ज्ञान का सूक्ष्म प्रयत्न होते-होते असंख्य क्षणों में द्रव्य की सामान्य सत्ता तक पहुंच पाते हैं और उसके बाद क्रमशः उसकी एक-एक विशेषता को जानते हैं। इस प्रकार हमारा चक्षु-अचक्षु दर्शन पहले होता है और मति-श्रुत बाद में। विशेष को जानकर सामान्य को जानना ज्ञान और दर्शन है। सामान्य को जानकर विशेष को जानना दर्शन और ज्ञान है।

ज्ञान और वेदना

स्पर्शन, रसन और घ्राण–ये तीन इन्द्रियां भोगी तथा चक्षु और श्रोत्र–ये दो कामी हैं।[४] कामी इन्द्रियों के द्वारा सिर्फ विषय जाना जाता है, उसकी अनुभूति नहीं होती। भोगी इन्द्रियों के द्वारा विषय का ज्ञान और अनुभूति दोनों होते हैं।

---

१. जैन सिद्धांत दीपिका, २/३३

२. वही, २/७

३. वही, २/३३

४. नंदी, सूत्र ५४, गाथा ४ : पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गंधं रसं च फासं च, बद्ध-पुट्ठं वियागरे॥

इन्द्रियों के द्वारा हम बाहरी वस्तुओं को जानते हैं। जानने की प्रक्रिया सबकी एक-सी नहीं है। चक्षु की ज्ञान शक्ति शेष इन्द्रियों से अधिक पटु है, इसलिए वह अस्पृष्ट रूप को जान लेता है।

श्रोत्र की ज्ञान शक्ति चक्षु से कम है। वह स्पृष्ट शब्द को ही जान सकता है। शेष तीन इन्द्रियों की क्षमता श्रोत्र से भी कम है। वे अपने विषय को बद्ध-स्पृष्ट हुए बिना नहीं जान सकते।[१]

बाहरी विषय का स्पर्श किए बिना या उसके स्पर्श मात्र से जो ज्ञान होता है, वहां अनुभूति नहीं होती। अनुभूति वहां होती है, जहां इन्द्रिय और विषय का निकटतम संबंध स्थापित होता है। स्पर्शन, रसन और घ्राण अपने-अपने विषय के साथ निकटतम संबंध स्थापित होने पर उसे जानते हैं, इसलिए उन्हें ज्ञान भी होता है और अनुभूति भी।

अनुभूति मानसिक भी होती है, पर वह बाहरी विषयों के गाढ़तम संपर्क से नहीं होती, किंतु वह विषय के अनुरूप मन का परिणमन होने पर होती है।

मानसिक अनुभव की एक उच्चतम दशा भी है। बाहरी विषय के बिना भी जो सत्य का भास होता है, वह शुद्ध मानसिक ज्ञान भी नहीं है और शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान भी नहीं है। वह इन दोनों के बीच की स्थिति है।[२]

वेदना के दो रूप : सुख-दुःख

बाह्य जगत की जानकारी हमें इन्द्रियों द्वारा मिलती है। उसका संवर्धन मन से होता है। स्पर्श, रस, गंध और रूप पदार्थ के मौलिक गुण हैं। शब्द उसकी पर्याय (अनियत गुण) है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को जानती है। इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान का विस्तार मन से होता है। सुख और दुःख जो बाह्य वस्तुओं के योग-वियोग से उत्पन्न होते हैं, वे शुद्ध ज्ञान नहीं हैं और उनकी अनुभूति अचेतन को नहीं होती, इसलिए वे अज्ञान भी नहीं हैं। वेदना ज्ञान और बाह्य पदार्थ–इन दोनों का संयुक्त कार्य है।

सुख-दुःख की अनुभूति इन्द्रिय और मन दोनों को होती है। इन्द्रियों को सुख की अनुभूति पदार्थ के निकट संयोग से होती है।

इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभूति और कल्पना–ये दोनों मानसिक अनुभूति के निमित्त हैं।

आत्मरमण जो चैतन्य की विशुद्ध परिणति है, आनंद या सहज सुख कहलाता है। वह वेदना नहीं है। वेदना शरीर और मन के माध्यम से प्राप्त होने वाली अनुभूति का नाम है। अमनस्क जीवों में केवल शारीरिक वेदना होती है। समनस्क जीवों में शारीरिक और मानसिक–दोनों प्रकार की वेदना होती है।[३] एक साथ सुख-दुःख दोनों की वेदना नहीं होती।

---

१. नंदी, सूत्र ५४, गाथा ४ : पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गंधं रसं च फासं च, बद्ध-पुट्ठं वियागरे॥

२. ज्ञानसार, अष्टक २६, श्लोक १ : सन्ध्येव दिन-रात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक्।
बुधैरनुभवो दृष्टः केवलार्कारुणोदयः॥

३. प्रज्ञापना, पद ३५।

ज्ञान के विभाग

ज्ञान के पांच विभाग हैं–१. मतिज्ञान अथवा आभिनिबोधिकज्ञान २. श्रुतज्ञान ३. अवधिज्ञान ४. मनःपर्यवज्ञान ५. केवलज्ञान।

उनके स्वरूप और विषय-ग्रहण शक्ति पर चार दृष्टियों से विचार किया गया है।

भगवान महावीर से गौतम ने पूछा–भंते! आभिनिबोधिकज्ञान का विषय कितना प्रज्ञप्त है?

भगवान ने कहा–गौतम! आभिनिबोधिकज्ञान का विषय संक्षेप में चार प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे–द्रव्य की दृष्टि से, क्षेत्र की दृष्टि से, काल की दृष्टि से, भाव की दृष्टि से।

द्रव्य की दृष्टि से आभिनिबोधिकज्ञानी आदेशतः सब द्रव्यों को जानता-देखता है।

क्षेत्र की दृष्टि से आभिनिबोधिकज्ञानी आदेशतः सर्व क्षेत्र को जानता-देखता है।

काल की दृष्टि से आभिनिबोधिकज्ञानी आदेशतः सर्व काल को जानता-देखता है।

भाव की दृष्टि से आभिनिबोधिकज्ञानी आदेशतः सब भावों को जानता-देखता है।

भंते! श्रुतज्ञान का विषय कितना प्रज्ञप्त है?

गौतम! श्रुतज्ञान का विषय संक्षेप में चार प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे–द्रव्य की दृष्टि से, क्षेत्र की दृष्टि से, काल की दृष्टि से, भाव की दृष्टि से।

द्रव्य की दृष्टि से श्रुतज्ञानी उपयुक्त अवस्था में (ज्ञेय के प्रति दत्तचित होने पर) सब द्रव्यों को जानता-देखता है।

क्षेत्र की दृष्टि से श्रुतज्ञानी उपयुक्त अवस्था में सब क्षेत्रों को जानता-देखता है।

काल की दृष्टि से श्रुतज्ञानी उपयुक्त अवस्था में सर्व काल को जानता-देखता है।

भाव की दृष्टि से श्रुतज्ञानी उपयुक्त अवस्था में सब भावों को जानता-देखता है।

भंते! अवधिज्ञान का विषय कितना प्रज्ञप्त है?

गौतम! अवधिज्ञान का विषय संक्षेप में चार प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे–द्रव्य की दृष्टि से, क्षेत्र की दृष्टि से, काल की दृष्टि से, भाव की दृष्टि से।

द्रव्य की दृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्यतः अनंत रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है। उत्कृष्टतः वह सब रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है।

क्षेत्र की दृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्यतः अंगुल के अंसख्यातवें भाग को जानता–देखता है। उत्कृष्टतः वह अलोक में लोक प्रमाण असंख्यात खंडों को जानता-देखता है–जान सकता है, देख सकता है।

काल की दृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्यतः आवलिका के असंख्यातवें भाग को जानता-देखता है। उत्कृष्टतः वह असंख्येय अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण अतीत और भविष्य काल को जानता-देखता है।

भाव की दृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्यतः अनंत भावों को जानता-देखता है। उत्कृष्टतः भी अनंत भावों को जानता-देखता है, सर्व भावों के अनंतवें भाग को जानता-देखता है।

भंते! मनः पर्यवज्ञान का विषय कितना प्रज्ञप्त है?

गौतम! मनःपर्यवज्ञान का विषय संक्षेप में चार प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे–द्रव्य की दृष्टि से, क्षेत्र की दृष्टि से, काल की दृष्टि से, भाव की दृष्टि से।

द्रव्य की दृष्टि से ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी मनोवर्गणा के अनंत अनंत-प्रदेशी स्कंधों को जानता-देखता है।

विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी उन स्कंधों को अधिकतर, विपुलतर, विशुद्धतर, उज्ज्वलतर रूप में जानता-देखता है।

क्षेत्र की दृष्टि से ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी नीचे की ओर इस रत्नप्रभा के ऊर्ध्ववर्ती क्षुल्लक प्रतर से अधस्तन क्षुल्लक प्रतर तक, ऊपर की ओर ज्योतिष्चक्र के उपरितल तक, तिरछे भाग में मनुष्य क्षेत्र के भीतर अढ़ाई द्वीप समुद्र तक पंद्रह कर्मभूमियों, तीस अकर्मभूमियों और छप्पन अंतर्द्वीपों में वर्तमान पर्याप्त समनस्क पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जानता-देखता है।

विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी उस क्षेत्र से अढ़ाई अंगुल अधिकतर, विपुलतर, विशुद्धतर, उज्ज्वलतर क्षेत्र को जानता-देखता है।

काल की दृष्टि से ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी पल्योपम के असंख्यातवें भाग अतीत और भविष्य को जानता-देखता है।

विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी उस काल खंड को अधिकतर, विपुलतर, विशुद्धतर, उज्ज्वलतर जानता-देखता है।

भाव की दृष्टि से ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी अनंत भावों को जानता-देखता है।

विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी उन भावों को अधिकतर, विपुलतर, विशुद्धतर, उज्ज्वलतर जानता-देखता है।

भंते! केवलज्ञानी का विषय कितना प्रज्ञप्त है?

गौतम! केवलज्ञान का विषय संक्षेप में चार प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे–द्रव्य की दृष्टि से, क्षेत्र की दृष्टि से, काल की दृष्टि से, भाव की दृष्टि से।

द्रव्य की दृष्टि से केवलज्ञानी सब द्रव्यों को जानता-देखता है।

क्षेत्र की दृष्टि से केवलज्ञानी सर्व क्षेत्र को जानता-देखता है।

काल की दृष्टि से केवलज्ञानी सर्व काल को जानता-देखता है।

भाव की दृष्टि से केवलज्ञानी सब भावों को जानता-देखता है।

प्रस्तुत प्रकरण में ज्ञान की ज्ञेय वस्तु का प्रतिपादन किया गया है।

ज्ञेय के चार प्रकार हैं–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। प्रस्तुत सूत्र में ज्ञेय के आधार पर ज्ञान के चार भेद किए गए हैं।

आभिनिबोधिक ज्ञानी सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व भाव को जानता है।

आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। परोक्ष ज्ञान के द्वारा सूक्ष्म, दूरस्थ और व्यवहित विषय को नहीं जाना जा सकता, इसलिए आदेश शब्द का प्रयोग किया गया है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने आदेश का अर्थ इस प्रकार किया है। आभिनिबोधिकज्ञानी ओघादेश (सामान्य आदेश) से सब द्रव्यों को जानता है, किंतु वह सब विशेषों की दृष्टि से सब द्रव्यों को नहीं जानता। तात्पर्य की भाषा में यह आभिनिबोधिक ज्ञान के ज्ञेय की सीमा का निर्देश है। वह सामान्यतः चार पर्यायों से विशिष्ट द्रव्य को जानता है।[१]

आभिनिबोधिकज्ञानी सब भावों को जानता है। जिनभद्रगणि ने इसका अर्थ किया है– आभिनिबोधिकज्ञानी औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक–इन पांच भावों को सामान्य या जाति के रूप में जानता है।[२]

आदेश का दूसरा अर्थ सूत्र किया गया है। आभिनिबोधिक ज्ञानी सूत्र के अनुसार सब द्रव्यों को जानता है।[३] इस आदेश शब्द के द्वारा केवलज्ञान और आभिनिबोधिकज्ञान के ज्ञेय की सीमा को स्पष्ट किया गया है।

श्रुतज्ञानी के साथ उपयुक्त शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य है कि वह श्रुतोपयोग पूर्वक सर्वद्रव्य, सर्वक्षेत्र, सर्वकाल और सर्वभाव को जानता है। उपयुक्त शब्द के द्वारा केवलज्ञान और श्रुतज्ञान के ज्ञेय की सीमा स्पष्ट होती है। देखें तुलनात्मक यंत्र–

	आभिनिबोधिक	**श्रुतज्ञान**	**केवलज्ञान**
द्रव्य	आदेशतः सर्व द्रव्यों को जानता-देखता है।	श्रुतोपयोग अवस्था में सर्व द्रव्यों को जानता-देखता है।	सर्व द्रव्यों को जानता-देखता है।
क्षेत्र	आदेशतः सर्व क्षेत्रों को जानता-देखता है।	श्रुतोपयोग अवस्था में सर्व क्षेत्रों को जानता-देखता है।	सर्व क्षेत्रों को जानता-देखता है।
काल	आदेशतः सर्व काल को जानता-देखता है।	श्रुतोपयोग अवस्था में सर्व काल को जानता-देखता है।	सर्व काल को जानता-देखता है।
भाव	आदेशतः सर्व भाव को जानता-देखता है।	श्रुतोपयोग अवस्था में सर्व भाव को जानता-देखता है।	सर्व भाव को जानता-देखता है।

१. (क) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ४०२–४०४ : तं पुण चउव्विहं, नेयभेयओ तेण जं तदुवउत्तो।
आदेसेणं सव्वं दव्वाइ चउव्विहं मुणइ॥
आएसेत्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं।
धम्मत्थिआइयाइं जाणइ न उ सव्वभेएण॥
खेत्तं लोगालोगं कालं सव्वद्धमहव तिविहं ति।
पंचोदयाईए भावे जं नेयमेवं इयं॥

(ख) भगवती वृत्ति ८/१८४–१८५

२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ४०४

३. वही, ४०५ : आएसो त्ति व सुत्तं सुउवलद्धेसु तस्स मइनाणं। पसरई तब्भावणया विणा वि सुत्तानुसारेण॥

तत्त्ववेत्ता, दार्शनिक और वैज्ञानिक अपनी मति से संपूर्ण विश्व रचना और विश्ववर्ती पदार्थों के बारे में चिंतन करते हैं, शोध करते हैं और नई-नई स्थापना करते हैं। उनमें औत्पत्तिकी बुद्धि का विकास भी होता है। उसके द्वारा अदृष्ट और अश्रुत तत्त्वों को जान लेते हैं। किसी पूर्व परंपरा और शास्त्र का अनुसरण किए बिना अनेक नए तत्त्वों का प्रतिपादन करते हैं, इसलिए आभिनिबोधिक और श्रुतज्ञान की केवलज्ञान से सापेक्ष दृष्टि से तुलना की जाती है। इस सापेक्षता को बताने के लिए ही आदेश और उपयुक्त शब्द का प्रयोग किया गया है।

नंदी में 'ण पासइ' पाठ उपलब्ध है। नंदी की चूर्णि में इसका अर्थ किया है—आभिनिबोधिक ज्ञानी धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों को नहीं देखता, उचित देश में अवस्थित रूप आदि को चक्षु-अचक्षु दर्शन के द्वारा देखता भी है।[१]

भगवती में 'पासइ' और नंदी में 'ण पासइ' इन दो विरोधी वक्तव्यों का समन्वय नंदी के व्याख्या ग्रंथों के आधार पर किया जा सकता है। आभिनिबोधिकज्ञानी सब द्रव्यों को देखता है, इसकी अपेक्षा यह है कि वह चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के विषयभूत सब द्रव्यों को देखता है। निषेध की अपेक्षा यह है कि आभिनिबोधिकज्ञानी धर्मास्तिकाय आदि अमूर्त द्रव्यों को नहीं देखता, इसलिए वह सब द्रव्यों को नहीं देखता।

श्रुतज्ञानी सब द्रव्यों को देखता है। अभयदेवसूरि ने इसकी व्याख्या की है। उन्होंने सब द्रव्यों का नियामक सूत्र दिया है। जो अभिलाप्य द्रव्य हैं, उन द्रव्यों को जानता है। जानने के दो साधन हैं—श्रुतानुवर्ती मानसज्ञान और अचक्षुदर्शन। संपूर्ण दशपूर्वधर आदि तथा श्रुतकेवली सर्व अभिलाप्य द्रव्यों को जानता-देखता है, संपूर्ण दशपूर्व से निम्न ज्ञान वालों के लिए भजना है।[२] वृद्ध व्याख्या के अनुसार 'पश्यति' का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—प्रज्ञापना में श्रुतज्ञान की पश्यत्ता का प्रतिपादन किया गया है।[३] विशेषावश्यकभाष्य में भी पश्यत्ता की चर्चा उपलब्ध है।[४]

श्रुतज्ञानी के द्वारा अनुत्तर-विमान आदि अदृष्ट भूखंडों का आलेख किया जाता है। सर्वथा अदृष्ट का आलेख नहीं किया जा सकता।[५] यद्यपि अभिलाप्य भावों का अनंतवां

---

१. नंदी चूर्णि ४२ : ण पस्सइ त्ति सव्वे सामण्णविसेसादेसट्ठिते धम्मादिए,
चक्खुअचक्खुदंसणेण रूव सद्दाइत्ते केयिं पासति त्ति।

२. भगवती वृत्ति ८/१८५ : सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि 'जानाति' विशेषतोऽवगच्छति, श्रुतज्ञानस्य तत्स्वरूपत्वात् पश्यति च श्रुतानुवर्तिमानसेन अचक्षुदर्शनेन सर्वद्रव्याणि चाभिलाप्यान्येव जानाति पश्यति चाभिन्नपूर्वदशधरादिः श्रुतकेवली तदारतस्तु भजना, सा पुनर्मतिविशेषतो ज्ञातव्येति।

३. पण्णवणा ३०/२

४. विशेषावश्यक भाष्य गाथा ५५३-५६५

५. भगवती वृत्ति ८/१८५ : वृद्धैः पुनः पश्यतीत्यत्रेदमुक्तं ननु पश्यतीति कथं ? कथं च न, सकलगोचरदर्शनायोगात् ? अत्रोच्यते, प्रज्ञापनायां श्रुतज्ञानपश्यत्तायाः प्रतिपादितत्वादनुत्तरविमानादीनां चालेख्यकरणात् सर्वथा चादृष्टस्यालेख्यकरणानुपपत्तेः।

भाग श्रुतनिबद्ध है, फिर भी सामान्य विवक्षा में सब अभिलाप्य भाव श्रुतज्ञान के ज्ञेय हैं, ऐसा कहा जाता है। इस अपेक्षा से यह पाठ है कि श्रुतज्ञानी सब भावों को जानता–देखता है।[1]

भगवती (१/२०४) में अवधिज्ञान के दो प्रकार बतलाए गए हैं–आधोवधिक और परमाधोवधिक। स्थानांग में अवधिज्ञान के देशावधि और सर्वावधि–ये दो प्रकार निर्दिष्ट हैं।[2] जयधवला में अवधिज्ञान के तीन प्रकार मिलते हैं–देशावधि, परमावधि और सर्वावधि।[3] प्रस्तुत सूत्र में विषय वस्तु का प्रतिपादन अवधिज्ञान के तीनों प्रकारों को लक्ष्य में रखकर किया गया है। अवधिज्ञानी जघन्यतः अनंत रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है, यह सर्व सामान्य निर्देश है। अवधिज्ञानी उत्कृष्टतः सब रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है, यह निर्देश परमावधि और सर्वावधि की अपेक्षा से है। अनंत की व्याख्या आवश्यक निर्युक्ति में मिलती है। पुद्‌गल की आठ वर्गणाएं हैं–

१. औदारिक वर्गणा २. वैक्रिय वर्गणा ३.आहारक वर्गणा ४. तैजस वर्गणा ५. भाषा वर्गणा ६. श्वासोच्छ्वास वर्गणा ७. मनो वर्गणा ८. कर्म वर्गणा।

निर्युक्ति के अनुसार प्रारंभिक अवस्था वाला अवधिज्ञानी तैजस और भाषा वर्गणा के मध्यवर्ती द्रव्यों को जानता है।[4]

विशेषावश्यक भाष्य, नंदी चूर्णि, नंदी की हारिभद्रीया वृत्ति और मलयगिरिया वृत्ति में भी इसी मत का अनुसरण है।[5] विशेष जानकारी के लिए नंदी (सूत्र ७–२२) के टिप्पण द्रष्टव्य हैं।

अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान का विषय है रूपी (मूर्त्त) द्रव्य। अरूपी द्रव्य उनका विषय नहीं है। अवधिज्ञान का विषय है सब रूपी द्रव्य। मनःपर्यवज्ञान का विषय केवल मनोवर्गणा के पुद्‌गल स्कंध हैं। समनस्क जीव मनन अथवा चिंतन करने के लिए मनोवर्गणा के पुद्‌गल स्कंधों को ग्रहण करता है। मनन के अनुरूप उन पुद्‌गल स्कंधों की आकृतियां बनती जाती हैं। उन आकृतियों की संज्ञा पर्याय है। मनः पर्यवज्ञानी मन की उन आकृतियों या पर्यायों का साक्षात्कार करता है। तात्पर्य की भाषा में मनन करने वाले व्यक्ति के विचारों का साक्षात्

१. भगवती वृत्ति, ८/१८५ : ननु भावओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वभावे जाणइ इति यदुक्तमिह तत् 'सुए चरित्ते न पज्जवा सव्वे' ति (अभिलाप्यापेक्षया) अनेन च सह कथं न विरुध्यते? उच्यते, इह सूत्रे सर्वग्रहणेन पंचौदयिकादयो भावा गृह्यन्ते, तांश्च सर्वान् जातितो जानाति, अथवा यद्यप्यभिलाप्यानां भावनामनन्त भाग एव श्रुतनिबद्धस्तथापि प्रसंगानुप्रसंगतः सर्वेप्यभिलाप्याः श्रुतविषया उच्यन्ते अतस्तदपेक्षया सर्वभावान् जानातीत्युक्तम्, अनभिलाप्यभावापेक्षया तु 'सुए चरित्ते न पज्जवा सव्वे'इत्युक्तमिति न विरोधः।

२. ठाणं २/१९३–२०० तथा १९३ का टिप्पण द्रष्टव्य।

३. कषायपाहुड़ भाग १, पृष्ठ १७

४. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३८

५. (क) विशेषावश्यक भाष्य गाथा ६८३ : तेयाकम्मसरीरे तेयादव्वे य भासदव्वे य।
(ख) नंदी चूर्णि पृष्ठ २०
(ग) नंदी हारिभद्रीया वृत्ति पृ. ३०
(घ) नंदी मलयगिरीया वृत्ति पत्र ९७

कर लेता है। विचार के समय जो चिंत्यमान वस्तु होती है, उसका साक्षात्कार नहीं होता। जिनभद्रगणि के अनुसार चिंत्यमान वस्तु को वह अनुमान से जानता है।[१]

सिद्धसेन ने अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान को एक ही माना है। उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञानबिंदु प्रकरण में उसका उल्लेख कर नय दृष्टि से उस पर विचारणा की है।[२] पंडित सुखलालजी ने मनःपर्यवज्ञान के विषय में एक विमर्श प्रस्तुत किया है–

मनःपर्यवज्ञान का विषय मन के द्वारा चिंत्यमान वस्तु है या चिंतन प्रवृत्त मनोद्रव्य की अवस्थाएं हैं–इस विषय में जैन परंपरा में ऐकमत्य नहीं। निर्युक्ति और तत्त्वार्थ सूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्रीय व्याख्याओं में पहला पक्ष वर्णित है, जबकि विशेषावश्यक भाष्य में दूसरे पक्ष का समर्थन किया गया है, परंतु योगभाष्य तथा मज्झिमनिकाय में जो परचित्त ज्ञान का वर्णन है, उसमें केवल दूसरा ही पक्ष है, जिसका वर्णन जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने किया है। योगभाष्यकार तथा मज्झिमनिकायकार स्पष्ट शब्दों में यही कहते हैं कि ऐसे प्रत्यक्ष के द्वारा दूसरों के चित्त का ही साक्षात्कार होता है, चित्त के आलंबन का नहीं। योगभाष्य में तो चित्त के आलंबन का ग्रहण हो न सकने के पक्ष में दलीलें भी दी गई हैं।

यहां विचारणीय दो बातें हैं–एक तो यह कि मनःपर्यवज्ञान के विषय के बारे में जो जैन वाङ्मय में दो पक्ष देखे जाते हैं, इसका स्पष्ट अर्थ क्या यह नहीं है कि पिछले वर्णनकारी साहित्य युग में ग्रंथकार पुरानी आध्यात्मिक बातों का तार्किक वर्णन तो करते थे, पर आध्यात्मिक अनुभव का युग बीत चुका था। दूसरी बात विचारणीय यह है कि योगभाष्य, मज्झिमनिकाय और विशेषावश्यक भाष्य में पाया जाने वाला ऐकमत्य स्वतंत्र चिंतन का परिणाम है या किसी एक का दूसरे पर असर भी है?[३]

मनःपर्यवज्ञान का विषय वास्तव में चिंतन प्रवृत्त मनोद्रव्य की अवस्थाएं हैं। चिंत्यमान वस्तु से उसका सीधा संबंध नहीं है। नंदी के चूर्णिकार ने इस विषय पर सुंदर प्रकाश डाला है, उनका वक्तव्य है–चिंत्यमान वस्तु मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार की हो सकती है। अमूर्त वस्तु मनःपर्यवज्ञान का विषय नहीं है, इसलिए मनःपर्यवज्ञान से मनोद्रव्य के पर्यायों का प्रत्यक्ष किया जा सकता है और चिंत्यमान वस्तु को अनुमान से जाना जा सकता है। अनुमान परोक्षज्ञान है, इसलिए उसका मनःपर्यवज्ञान से सीधा संबंध नहीं है।[४]

---

१. विशेषावश्यक भाष्य गाथा ८१३-८१४ : मुणइ मणोदव्वाइं नरलोए सो मणिज्जमाणाइं।
काले भूयभविस्से पलियाऽसंखिज्जभागम्मि॥
दव्वमणोपज्जाए जाणइ पासइ य तग्गएणंते।
तेणावभासिए उण जाणइ बज्झेऽणुमाणेणं॥

२. ज्ञानबिन्दु प्रकरण १८

३. ज्ञानबिन्दु प्रकरण, भूमिका पृ. ४१–४२

४. नंदी चूर्णि पृष्ठ २४–सण्णिणा मणत्तेण मणिते मणोखंधे अणंते अणंतपदेसिए, दव्वट्ठताए तग्गते य वण्णादिए भावे मणपज्जवणाणेणं पच्चक्खं पेक्खमाणो जाणाति–त्ति भणितं। मणितमत्थं पुण पच्चक्खं ण पेक्खति जेण मणालंबणं मुत्तममुत्तं वा सो य छदमत्थो तं अणुमाणतो पेक्खति ति अतो पासणता भणिता।

ज्ञान के दो विभाग हैं–क्षायोपशमिक और क्षायिक। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यव–ये चार ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होते हैं, इसलिए क्षायोपशमिक हैं। केवलज्ञान ज्ञानावरण के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है, इसलिए वह क्षायिक है।

क्षायोपशमिक ज्ञान का विषय है मूर्तद्रव्य-पुद्गलद्रव्य। क्षायिक ज्ञान का विषय मूर्त और अमूर्त दोनों द्रव्य हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव–ये अमूर्त द्रव्य हैं। क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा इनका प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकता। अमूर्त का ज्ञान परोक्षात्मक शास्त्र ज्ञान से होता है।[१]

दार्शनिक युग में केवलज्ञान की विषय वस्तु के आधार पर सर्वज्ञवाद की विशद चर्चा हुई है। पंडित सुखलालजी ने उस चर्चा का समवतार इस प्रकार किया है–'न्याय, वैशेषिक दर्शन जब सर्व विषयक साक्षात्कार का वर्णन करते हैं तब वे सर्व शब्द से अपनी परंपरा में प्रसिद्ध द्रव्य, गुण आदि सातों को संपूर्ण भाव से लेते हैं। सांख्य योग जब सर्व विषयक साक्षात्कार का चित्रण करता है, तब वह अपनी परंपरा में प्रसिद्ध प्रकृति, पुरुष आदि पचीस तत्त्वों के पूर्ण साक्षात्कार की बात कहता है। बौद्ध दर्शन सर्व शब्द से अपनी परंपरा में प्रसिद्ध पंच स्कंधों को संपूर्ण शब्द से लेता है। वेदान्त दर्शन सर्व शब्द से अपनी परंपरा में पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध एकमात्र पूर्ण ब्रह्म को ही लेता है। जैन दर्शन भी सर्व शब्द से अपनी परंपरा में प्रसिद्ध सपर्याय षड्द्रव्यों को पूर्णरूपेण लेता है। इस तरह उपर्युक्त सभी दर्शन अपनी-अपनी परंपरा के अनुसार माने जाने वाले सब पदार्थों को लेकर उनका पूर्ण साक्षात्कार मानते हैं और तदनुसारी लक्षण भी करते हैं।[२]

पंडित सुखलालजी की सर्वज्ञता विषयक मीमांसा का स्पष्ट फलित है कि 'सर्व' पद के विषय में सब दार्शनिक एक मत नहीं हैं। इसका मूल हेतु आत्मा और ज्ञान के संबंध की अवधारणा है। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। वह एक है, अक्षर है, उसका नाम केवलज्ञान है।[३]

आचार्य कुन्दकुन्द ने केवल ज्ञान का लक्षण व्यवहार और निश्चय–दो दृष्टियों से किया है। व्यवहार नय से केवली भगवान सबको जानते हैं और देखते हैं। निश्चयनय से केवलज्ञानी अपनी आत्मा को जानते हैं और देखते हैं।[४]

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान स्व-पर प्रकाशी है। वह स्वप्रकाशी है, इस आधार पर केवलज्ञानी निश्चय नय से आत्मा को जानता-देखता है, यह लक्षण संगत है। वह पर प्रकाशी है, इस आधार पर वह सबको जानता-देखता है, यह लक्षण संगत है।

केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव है। वह स्वभाव है, इसलिए मुक्त अवस्था में भी विद्यमान रहता है। प्रत्यक्ष अथवा साक्षात्कारित्व उसका स्वाभाविक गुण है। ज्ञानावरण कर्म से आच्छन्न

१. द्रष्टव्य भगवई ८/१८५

२. दर्शन चिंतन पृ. ४२९–३०

३. नंदी सू. ७१

४. नियमसार गाथा १२/१/१५९ : जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥

होने के कारण उसके मति, श्रुत आदि भेद बनते हैं। संग्रह दृष्टि से चार भेद किए गए हैं–मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यव। तारतम्य के आधार पर असंख्य भेद बन सकते हैं। ज्ञानावरण का सर्व विलय होने पर ज्ञान के तारतम्यजनित भेद समाप्त हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

केवलज्ञान का अधिकारी सर्वज्ञ होता है। सर्वज्ञ और सर्वज्ञता न्याय प्रधान दर्शन युग का एक महत्त्वपूर्ण चर्चनीय विषय रहा है। जैन दर्शन को केवलज्ञान मान्य है, इसलिए सर्वज्ञवाद उसका सहज स्वीकृत पक्ष है। आगम युग में उसके स्वरूप और कार्य का वर्णन मिलता है, किंतु उसकी सिद्धि के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया। दार्शनिक युग में मीमांसक, चार्वाक आदि ने सर्वज्ञत्व को अस्वीकार किया, तब जैन दार्शनिकों ने सर्वज्ञत्व की सिद्धि के लिए कुछ तर्क प्रस्तुत किए–ज्ञान का तारतम्य देखा जाता है। जिसका तारतम्य होता है, उसका अंतिम बिंदु तारतम्य रहित होता है। ज्ञान का तारतम्य सर्वज्ञता में परिनिष्ठित होता है। इस युक्ति का उपयोग मल्लवादी, हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजय आदि सभी दार्शनिकों ने किया है।[१]

पंडित सुखलालजी ने इस युक्ति का ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुए लिखा है[२]–यहां ऐतिहासिक दृष्टि से यह तात्पर्य है कि प्रस्तुत युक्ति का मूल कहां तक पाया जाता है और वह जैन परंपरा में कब से आई देखी जाती है। अभी तक के हमारे वाचन-चिंतन से हमें यह जान पड़ता है कि इस युक्ति का पुराणतम उल्लेख योगसूत्र के सिवाय अन्यत्र नहीं है। हम पातंजल योगसूत्र के प्रथम पाद में 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (१.२५) ऐसा सूत्र पाते हैं, जिसमें साफ तौर से यह बतलाया गया है कि ज्ञान का तारतम्य ही सर्वज्ञ के अस्तित्व का बीज है, जो ईश्वर में पूर्णरूपेण विकसित है। इस सूत्र के ऊपर के भाष्य में व्यास ने तो मानो सूत्र के विधान का आशय हस्तामलकवत् प्रकट किया है। न्याय-वैशेषिक परंपरा जो सर्वज्ञवादी है, उसके सूत्र, भाष्य आदि प्राचीन ग्रंथों में इस सर्वज्ञास्तित्व की साधक युक्ति का उल्लेख नहीं है। हां, हम प्रशस्तपाद की टीका व्योमवती (पृ. ५६०) में उसका उल्लेख पाते हैं, पर ऐसा कहना निर्युक्तिक नहीं होगा कि व्योमवती का वह उल्लेख योगसूत्र तथा उसके भाष्य के बाद का ही है। काम की किसी भी अच्छी दलील का प्रयोग जब एक बार किसी के द्वारा चर्चा क्षेत्र में आ जाता है तब फिर वह आगे सर्वसाधारण हो जाता है। प्रस्तुत युक्ति के बारे में भी यही हुआ जान पड़ता है। संभवतः सांख्ययोग परंपरा ने उस युक्ति का आविष्कार किया, फिर उसने न्याय, वैशेषिक तथा बौद्ध[३] परंपरा के ग्रंथों में भी प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किया और उसी तरह वह जैन परंपरा में भी प्रतिष्ठित हुई।

जैन परंपरा के आगम, निर्युक्ति, भाष्य आदि प्राचीन अनेक ग्रंथ सर्वज्ञत्व के वर्णन से भरे पड़े हैं, पर हमें उपर्युक्त ज्ञान तारतम्य वाली सर्वज्ञत्व साधक युक्ति का सर्वप्रथम प्रयोग

---

१. (क) नयचक्र, लिखित प्रति पृष्ठ १२३ अ.।
(ख) प्रमाण मीमांसा, अध्ययन १, आह्निक १, सूत्र १८ पृष्ठ १५
(ग) ज्ञानबिन्दु प्रकरण, पृष्ठ १९

२. ज्ञानबिन्दु प्रकरण, भूमिका पृष्ठ ४३–४४

३. तत्त्व संग्रह, पृष्ठ ८२५

मल्लवादी की कृति में ही देखने को मिलता है।[1] अभी यह कहना संभव नहीं कि मल्लवादी ने किस परंपरा से वह युक्ति अपनाई, पर इतना तो निश्चित है कि मल्लवादी के बाद के सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने इस युक्ति का उदारता से उपयोग किया है।'

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का गुण है। वह अनावृत अवस्था में भेद या विभाग शून्य होता है। आवरण के कारण उसके विभाग होते हैं और तारतम्य होता है। ज्ञान के तारतम्य के आधार पर उसकी पराकाष्ठा को केवलज्ञान मानना एक पक्ष है, किंतु इससे अधिक संगत पक्ष यह है कि केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव अथवा गुण है। ज्ञानावरण कर्म के कारण उसमें तारतम्य होता है। ज्ञानावरण के क्षय होने पर स्वभाव प्रकट हो जाता है।

किसी अन्य दर्शन में ज्ञान आत्मा का स्वभाव या गुण रूप में स्वीकृत नहीं है, इसलिए उनमें सर्वज्ञता का वह सिद्धांत मान्य नहीं है, जो जैन दर्शन में है। पंडित सुखलालजी ने सर्व शब्द को दर्शन के साथ जोड़ा है। उनके अनुसार जो दर्शन जितने तत्त्वों को मानता है, उन सबको जानने वाला सर्वज्ञ होता है। जैन दर्शन ने 'सर्व' शब्द को स्वाभिमत द्रव्य की सीमा में आबद्ध नहीं किया है। उसे द्रव्य के अतिरिक्त क्षेत्र, काल और भाव के साथ संयोजित किया है। केवलज्ञान का विषय है–१. सर्व द्रव्य २. सर्व क्षेत्र ३. सर्व काल ४. सर्व भाव।

द्रव्य का सिद्धांत प्रत्येक दर्शन का अपना होता है, किंतु क्षेत्र, काल और भाव–ये सर्व सामान्य हैं। सर्वज्ञ सब द्रव्यों को सर्वथा, सर्वत्र और सर्व काल में जानता देखता है।[2]

न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों में ज्ञान आत्मा के गुण के रूप में सम्मत नहीं है, इसलिए उन्हें मनुष्य की सर्वज्ञता का सिद्धांत मान्य नहीं हो सकता। बौद्ध दर्शन में अन्वयी आत्मा मान्य नहीं है, इसलिए बौद्ध भी सर्वज्ञवाद को स्वीकार नहीं करते। वेदांत के अनुसार केवल ब्रह्म ही सर्वज्ञ हो सकता है, कोई मनुष्य नहीं। सांख्य दर्शन में केवलज्ञान अथवा कैवल्य की अवधारणा स्पष्ट है।[3]

जैन दर्शन सम्मत सर्वज्ञता के विरोध में मीमांसकों ने प्रबल तर्क उपस्थित किए। उनके अनुसार प्रत्यक्ष, उपमान, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि–किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

न्याय और वैशेषिक ईश्वरवादी दर्शन हैं। वे ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं। कालक्रम से उनमें योगि-प्रत्यक्ष की अवधारणा प्रविष्ट हुई है, पर जैन दर्शन सम्मत सर्वज्ञत्व की अवधारणा उनमें नहीं है। जैन दर्शन में केवलज्ञान या सर्वज्ञत्व मोक्ष की अनिवार्य शर्त है। न्याय और वैशेषिक

---

१. नयचक्र, लिखित प्रति पृष्ठ १२३ अ.

२. नंदी चूर्णि २८ : एते दव्वादिया सव्वे सव्वधा सव्वत्थ सव्वकालं उवयुत्तो सागाराऽणागारलक्खणेहिं णाणदंसणेहिं जाणति पासति य।

३. सांख्यकारिका, श्लोक ६४,६८ : एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि, न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं, केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥
प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वाद् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकांतिकमात्यंतिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥

का मत है–मुक्त अवस्था में योगि-प्रत्यक्ष नहीं रहता। ईश्वर का ज्ञान नित्य है और योगि-प्रत्यक्ष अनित्य।[१]

शान्तरक्षित ने कुमारिल के तर्कों का उत्तर दिया,[२] किंतु शान्तरक्षित के उत्तर सर्वज्ञत्व की सिद्धि में बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकते। बौद्ध दर्शन सर्वज्ञत्व के विरोध में अग्रणी रहा है। उत्तरवर्ती बौद्धों ने सर्वज्ञत्व का जो स्वीकार किया है, वह अस्वीकार और स्वीकार के मध्य झूलता दिखाई देता है। सर्वज्ञत्व की सिद्धि में सर्वाधिक प्रयत्न जैन दार्शनिकों का है। इस प्रयत्न की पृष्ठभूमि में दो हेतु हैं–

१. सर्वज्ञता आत्मा का स्वभाव है।   २. मोक्ष के लिए सर्वज्ञत्व अनिवार्य है।

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञता का खंडन किया, उसका उत्तर आचार्य हरिभद्र[३] ने दिया। कुमारिल के तर्कों का उत्तर समन्तभद्र,[४] अकलंक,[५] विद्यानन्द,[६] प्रभाचन्द्र[७] आदि ने दिया है। यदि हम तर्कजाल को सीमित करना चाहें तो नंदी का यह सूत्र पर्याप्त है–ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। ज्ञानावरण के क्षीण होने पर सकल ज्ञेय को जानने की उसमें क्षमता है।[८]

केवलज्ञान की परिभाषा

नंदी के अनुसार जो ज्ञान सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व भाव को जानता, देखता है, वह केवलज्ञान है।[९]

आचारचूला से फलित होता है–केवलज्ञानी सब जीवों के सब भावों को जानता-देखता है। ज्ञेय रूप सब भावों की सूची इस प्रकार है–१. आगति, २. गति, ३. स्थिति, ४. च्यवन, ५.उपपात, ६. भुक्त, ७.पीत, ८. कृत, ९. प्रतिसेवित १०. आविष्कर्म-प्रगट में होने वाला कर्म ११. रहस्य कर्म १२. लपित १३. कथित १४. मनो-मानसिक।[१०]

---

१. न्यायमंजरी, पृष्ठ ५०८ : तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः।
गुणानामात्मनो ध्वंसः सोपवर्गः प्रकीर्तितः॥

२. तत्त्व संग्रह, पृष्ठ ८४६

३. शास्त्रवार्ता समुच्चय ६२७-६४३

४. आप्तमीमांसा, पृष्ठ ७२ कारिका ५

५. न्यायविनिश्चय कारिका ३६१,३६२,४१०,४१४,४३५

६. अष्टसहस्री, पृष्ठ ५०

७. प्रमेयकमलमार्तण्ड २५५

८. (क) नंदी सूत्र ७१
(ख) वही, सूत्र ३३/१ : अह सव्वदव्वपरिणाम-भाव-विण्णत्ति-कारणमणंतं।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं नाणं॥

९. वही, सूत्र ३३

१०. आयारचूला १५/३९– से भगवं अरिहे जिणे जाए केवली सव्वण्णू सव्वभावदरिसी, सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पज्जाए जाणइ, तं जहा–आगतिं गतिं ठितिं चयणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडिसेवियं आवीकम्मं रहोकम्मं लवियं कहियं मणोमाणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे, एवं च णं विहरइ।

षट्खंडागम में भी आचारचूला के समान ही सूत्र उपलब्ध है।[४] देखें यंत्र–

आचारचूला	**षट्खंडागम**
१. आगति	१. आगति
२. गति	२. गति
३. स्थिति	३. च्यवन
४. च्यवन	४. उपपात
५. उपपात	५. बंध
६. भुक्त	६. मोक्ष
७. पीत	७. ऋद्धि
८. कृत	८. स्थिति
९. प्रतिसेवित	९. अनुभाग
१०. आविष्कर्म	१०. तर्क
११. रहस्य कर्म	११. कल
१२. लपित	१२. मनोमानसिक भाव
१३. कथित	१३. भुक्त
१४. मनोमानसिक भाव	१४. कृत
१५. सर्व लोक	१५. प्रतिसेवित
१६. सर्व जीव	१६. आदि कर्म
१७. सर्व भाव	१७. रहस्य कर्म
	१८. सर्व लोक
	१९. सर्व जीव
	२०. सर्व भाव

केवली मित और अमित दोनों को जानता है। अमित को जानता है–यह नंदी आदि उत्तरवर्ती सूत्र ग्रंथों का वक्तव्य है। केवली मित को जानता है, इसकी व्याख्या आचारचूला के उक्त संदर्भ में स्पष्ट होती है। अमित और मित की व्याख्या दो नयों के आधार पर की जा सकती है। निश्चय नय का सिद्धांत यह है कि केवली समग्र को जानता है, उसका ज्ञान अनावृत है, इसलिए उसमें सबको जानने की क्षमता है। व्यवहार नय के आधार पर कहा जा सकता है कि केवली मित को जानता है, जिस समय जितना प्रयोजनीय है, उतना जानता है। अभयदेवसूरि ने मित के उदाहरण के रूप में गर्भज मनुष्य, जीव द्रव्य आदि का उल्लेख किया

४. षट् खंडागम १३/५,५,८२ ३४६–सइं भयवं उप्पण्ण–णाणदरिसी सर्वदेवासुरमणुस्सलोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ट्ठिदिं अणुभागं तक्कं कल मणोमाणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं रहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि।

है और अमित के उदाहरण के रूप में वनस्पति, पृथ्वी, जीव द्रव्य आदि का उल्लेख किया है,[1] किंतु अमित को जानता है, फिर मित को जानता है–इस वचन की सार्थकता प्रतीत नहीं होती, इसलिए मित की व्याख्या व्यवहार नय के आधार पर और अमित की व्याख्या निश्चय नय के आधार पर की जाए तो अधिक संगत प्रतीत होती है।

जो मूर्त और अमूर्त सब द्रव्यों को सर्वथा और सर्व काल में जानता-देखता है, वह केवलज्ञान है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय और व्यवहार नय के आधार पर केवलज्ञान की परिभाषा की है।[3]

बृहत्कल्प भाष्य में केवलज्ञान के पांच लक्षण बतलाए हैं–

१. असहाय–इन्द्रिय-मन-निरपेक्ष।

२. एक-ज्ञान के सभी प्रकारों से विलक्षण।

३. अनिवारित व्यापार-अविरहित उपयोग वाला।

४. अनंत-अनंत ज्ञेय का साक्षात्कार करने वाला।

५. अविकल्पित–विकल्प अथवा विभाग रहित।[4]

तत्त्वार्थभाष्य में केवलज्ञान का स्वरूप विस्तार से बतलाया गया है। वह सब भावों का ग्राहक, संपूर्ण लोक और अलोक को जानने वाला है। इससे अतिशायी कोई ज्ञान नहीं है। ऐसा कोई ज्ञेय नहीं है, जो केवलज्ञान का विषय न हो।[5]

उक्त व्याख्याओं के संदर्भ में सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की व्याख्या इस प्रकार फलित होती है–

सर्व द्रव्य का अर्थ है–मूर्त और अमूर्त सब द्रव्यों को जानने वाला। केवलज्ञान के अतिरिक्त कोई भी ज्ञान अमूर्त का साक्षात्कार अथवा प्रत्यक्ष नहीं कर सकता।

सर्व क्षेत्र का अर्थ है–संपूर्ण आकाश (लोकाकाश और अलोकाकाश) को साक्षात् जानने वाला।

सर्व काल का अर्थ है–सीमातीत अतीत और भविष्य को जानने वाला। शेष कोई ज्ञान असीम काल को नहीं जान सकता।

सर्व भाव का अर्थ है–गुरुलघु और अगुरुलघु सब पर्यायों को जानने वाला।

---

१. भगवती वृत्ति ५/६७ : मियं पि त्ति परिणामवद् गर्भजमनुष्यजीवद्रव्यादि।
अमियं पि त्ति अनंतमसंख्येयं वा वनस्पति, पृथिवी, जीवद्रव्यादि।

२. नंदी चूर्णि पृष्ठ २८

३. द्रष्टव्य नियमसार गाथा १२/१५९पृ. १४६

४. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका गाथा ३८ : दव्वादि कसिणविसयं केवलमेगं तु केवलन्नाणं।
अणिवारियवावारं, अणंतमविकप्पियं नियतं॥

५. तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य १/३०– सर्वद्रव्येषु सर्वपर्यायेषु च केवलज्ञानस्य विषयनिबंधो भवति। तद्धि सर्वभावग्राहकं संभिन्नलोकालोकविषयम्। नातः परं ज्ञानमस्ति। न च केवलज्ञानविषयात् किंचिदन्यज्ज्ञेयमस्ति। केवलं परिपूर्णं समग्रमसाधारणं निरपेक्षं विशुद्धं सर्वभावज्ञापकं लोकालोकविषयमनन्तपर्यायमित्यर्थः।

केवलज्ञान या सर्वज्ञता की इतनी विशाल अवधारणा किसी अन्य दर्शन में उपलब्ध नहीं है। पंडित सुखलाल जी ने 'निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' योगदर्शन के इस सूत्र को सर्वज्ञ सिद्धि का प्रथम सूत्र माना है। जैन आचार्यों ने भी इस युक्ति का अनुसरण किया है, किंतु सर्वज्ञता की सिद्धि का मूल सूत्र आगम में विद्यमान है। वह प्राचीन है तथा योगदर्शन के सूत्र से सर्वथा भिन्न है। सर्वज्ञता की सिद्धि का हेतु है अनिन्द्रियता।[१] इन्द्रिय ज्ञान स्पष्ट है। उसका प्रतिपक्ष है अनिन्द्रिय ज्ञान। जो सत् है, उसका प्रतिपक्ष अवश्य है। इन्द्रियज्ञान का प्रतिपक्ष है अनिन्द्रिय ज्ञान। सर्वज्ञता इन्द्रिय और मन से सर्वथा निरपेक्ष है।

अनावृत ज्ञान एक है। आवृत-दशा में उसके चार विभाग होते हैं। दोनों को एक साथ गिनें तो ज्ञान पांच होते हैं–मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल।

मति और श्रुत–ये दो ज्ञान सब जीवों में होते हैं। अवधि होने पर तीन और मनःपर्याय होने पर चार ज्ञान एक व्यक्ति में एक साथ (उपलब्धि की दृष्टि से) हो सकते हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के पांच विकल्प बनते हैं–

एक साथ–मति, श्रुत।

एक साथ–मति, श्रुत, अवधि।

एक साथ–मति, श्रुत, मनःपर्याय।

एक साथ–मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय।

एक साथ–केवल।

ज्ञान की तरतमता को देखा जाए तो उसके असंख्य विभाग हो सकते हैं। ज्ञान के पर्याय अनंत हैं।[२]

मनःपर्याय ज्ञान के पर्याय सबसे थोड़े हैं।

अवधि ज्ञान के पर्याय उससे अनंतगुण अधिक हैं।

मति ज्ञान के पर्याय उससे अनंतगुण अधिक हैं।

केवल ज्ञान के पर्याय उससे अनंतगुण अधिक हैं।

यह अंतर एक-दूसरे की तुलना में है। केवल-ज्ञान में कोई तरतमभाव नहीं है। शेष ज्ञानों में बहुत बड़ा तारतम्य हो सकता है। एक व्यक्ति का मति-ज्ञान दूसरे व्यक्ति के मति-ज्ञान से अनंतगुण हीनाधिक हो सकता है,[३] किंतु इसके आधार पर किए गए ज्ञान के विभाग उपयोगी नहीं बनते।

विभाग करने का मतलब ही उपयोगिता है। संग्रह नय द्रव्य, गुण और पर्यायों का एकीकरण करता है। वह हमारे व्यवहार का साधक नहीं है। हमारी उपयोगिता व्यवहार नय पर

१. भगवई, ८/११७–अणिंदिया णं भंते! जीवा किं णाणी?...... जहा सिद्धा।

२. वही, ८/२१२

३. वही, ८/२१२

आधारित है। वह द्रव्य, गुण और पर्याय को विभक्त करता है। ज्ञान के विभाग भी उपयोगिता की दृष्टि से किए गए हैं।

ज्ञेय और ज्ञान–ये दो नहीं होते तो ज्ञान के कोई विभाजन की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञेय की स्वतंत्र सत्ता है और वह मूर्त और अमूर्त–इन दो भागों में विभक्त है। आत्मा साधनों के बिना भी जान सकता है और आवरण की स्थिति के अनुसार साधनों के माध्यम से भी जानता है।

जानने के साधन दो हैं–इन्द्रिय और मन। इनके द्वारा ज्ञेय को जानने की आत्मिक क्षमता को मति और श्रुत कहा है।[१]

इन्द्रिय और मन के माध्यम के बिना ही केवल मूर्त ज्ञेय को जानने की क्षमता को अवधि और मनःपर्याय कहा गया है।[२]

मूर्त और अमूर्त सबको जानने की आत्मिक क्षमता या ज्ञान की क्षमता के पूर्ण विकास को केवल कहा गया है।[३]

मतिज्ञान

प्राणी और अप्राणी में स्पष्ट भेद-रेखा खींचने वाला चिह्न इन्द्रिय है। प्राणी असीम ऐश्वर्य संपन्न होता है, इसलिए वह 'इन्द्र' है। इन्द्र के चिह्न का नाम है–'इन्द्रिय'। वे पांच हैं–स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनके विषय भी पांच हैं–स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द। इसीलिए इन्द्रिय को प्रतिनियत अर्थग्राही कहा जाता है। जैसे–

१. स्पर्श ग्राहक इन्द्रिय–स्पर्शन।

२. रस ग्राहक इन्द्रिय–रसन।

३. गंध ग्राहक इन्द्रिय–घ्राण।

४. रूप ग्राहक इन्द्रिय–चक्षु।

५. शब्द ग्राहक इन्द्रिय–श्रोत्र।

इन्द्रिय चतुष्टय

१. जिस प्राणी के चक्षु का आकार नहीं होता, वह रूप को नहीं जान सकता।

२. आंख का आकार ठीक होते हुए भी कई मनुष्य रूप को नहीं देख पाते।

३. तत्काल मृत व्यक्ति, आंख की रचना और शक्ति दोनों के होते हुए भी रूप को नहीं जान पाता।

४. अन्यमनस्क व्यक्ति सामने आए हुए रूप को भी नहीं देखता।

इन्द्रिय के बारे में ये चार समस्याएं हैं। इनको सुलझाने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के 'चतुष्टय' पर विचार करना आवश्यक होता है। वह है–

---

१. जैन सिद्धांत दीपिका, २/७, १३

२. वही, १/२४, २८

३. वही, २/३१

१. निवृत्ति (द्रव्य इन्द्रिय) पौद्‌गलिक इन्द्रिय की रचना–शारीरिक संस्थान।

२. उपकरण...शरीराधिष्ठान–इन्द्रिय, विषय का ज्ञान करने में सहायक सूक्ष्मतम पौद्‌गलिक अवयव।

३. लब्धि (भाव इन्द्रिय)–चेतन-इन्द्रिय, ज्ञान शक्ति।

४. उपयोग...आत्माधिष्ठान–इन्द्रिय, ज्ञान शक्ति का व्यापार।

प्रत्येक इन्द्रिय ज्ञान के लिए ये चार बातें अपेक्षित होती हैं–१. इन्द्रिय की रचना। २. इन्द्रिय की ग्राहक शक्ति। ३. इन्द्रिय की ज्ञान शक्ति। ४. इन्द्रिय की ज्ञान शक्ति का व्यापार।

१. चक्षु का आकार हुए बिना रूप दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है–उस प्राणी के चक्षु की 'निर्वृत्ति–इन्द्रिय' नहीं है।

२. चक्षु का आकार ठीक होते हुए भी रूप का दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है–उस मनुष्य की 'उपकरण इन्द्रिय' विकृत है।

३. आकार और ग्राहक शक्ति दोनों के होते हुए भी तत्काल मृत व्यक्ति को रूप दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है–उसमें अब 'ज्ञान शक्ति' नहीं रही।

४. अन्यमनस्क व्यक्ति को आकार, विषय ग्राहक शक्ति और ज्ञान शक्ति के होने पर भी रूप दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है–वह रूप-दर्शन के प्रति प्रयत्न नहीं कर रहा है।

इन्द्रिय प्राप्ति का क्रम

इन्द्रिय विकास सब प्राणियों में समान नहीं होता। इन्द्रिय विकास के आधार पर प्राणियों के पांच विकल्प मिलते हैं–१. एकेन्द्रिय प्राणी २. द्वीन्द्रिय प्राणी ३. त्रीन्द्रिय प्राणी ४. चतुरिन्द्रिय प्राणी ५. पंचेन्द्रिय प्राणी।

जिस प्राणी के शरीर में जितनी इन्द्रियों का अधिष्ठान-आकार रचना होती है, वह प्राणी उतनी इन्द्रिय वाला कहलाता है। प्रश्न यह होता है कि प्राणियों में यह आकार रचना का वैषम्य क्यों? इसका समाधान है कि जिस प्राणी के जितनी ज्ञान शक्तियां–लब्धि इन्द्रियां विकसित होती हैं, उस प्राणी के शरीर में उतनी ही इन्द्रियों की आकृतियां बनती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रिय के अधिष्ठान, शक्ति और व्यापार का मूल लब्धि इन्द्रिय है। उसके होने पर निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग होते हैं।

लब्धि के बाद दूसरा स्थान निर्वृत्ति का है। इसके होने पर उपकरण और उपयोग होते हैं। उपकरण के होने पर उपयोग होता है।

इन्द्रिय व्याप्ति

लब्धि....निर्वृत्ति....उपकरण....उपयोग।

निर्वृत्ति....उपकरण....उपयोग।

उपकरण....उपयोग।

उपयोग के बिना उपकरण, उपकरण के बिना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के बिना लब्धि हो सकती है, किंतु लब्धि के बिना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के बिना उपकरण, उपकरण के बिना उपयोग नहीं हो सकता।

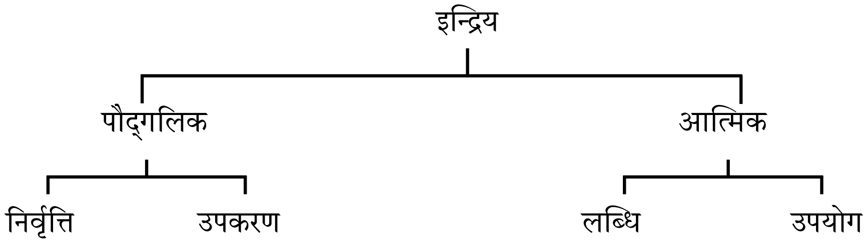

मन

मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है, वह मन है।[१] मन भी इन्द्रिय की भांति पौद्गलिक शक्ति सापेक्ष होता है, इसलिए इसके दो भेद बनते हैं–द्रव्य मन और भाव मन।

मनन के आलंबनभूत या प्रवर्तक पुद्गल द्रव्य (मनोवर्गणा द्रव्य) जब मन रूप में परिणत होते हैं, तब वे द्रव्य मन कहलाते हैं। यह मन अजीव है–आत्मा से भिन्न है।[२]

विचारात्मक मन का नाम भाव मन है। मन मात्र जीव ही नहीं है,[३] किंतु मन जीव भी है–जीव का गुण है, जीव से सर्वथा भिन्न नहीं है, इसलिए इसे आत्मिक मन कहते हैं।[४] इसके दो भेद हैं–लब्धि और उपयोग। पहला मानस ज्ञान का विकास है और दूसरा उसका व्यापार। मन को नो-इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और दीर्घकालिक संज्ञा कहा जाता है।

इन्द्रिय के द्वारा गृहीत विषयों को वह जानता है, इसलिए वह नो-इन्द्रिय–ईषत् इन्द्रिय या इन्द्रिय जैसा कहलाता है। इन्द्रिय की भांति वह बाहरी साधन नहीं है (आंतरिक साधन है) और उसका कोई नियत आकार नहीं है, इसलिए वह अनिन्द्रिय है। मन अतीत की स्मृति, वर्तमान का ज्ञान या चिंतन और भविष्य की कल्पना करता है, इसलिए वह 'दीर्घकालिक संज्ञा' है। जैन आगमों में मन की अपेक्षा 'संज्ञा' शब्द का व्यवहार अधिक हुआ है। समनस्क प्राणी को 'संज्ञी' कहते हैं।

उसके लक्षण इस प्रकार हैं–

१. ईहा–सत् अर्थ का पर्यालोचन।

२. अपोह–निश्चय।

३. मार्गणा–अन्वय धर्म का अन्वेषण।

४. गवेषणा–व्यतिरेक धर्म का स्वरूपालोचन।

---

१. मनः मननं, मन्यते अनेन वा मनः।

२. भगवई, १३/१२६ : आया भंते! मणे? अन्ने मणे? गोयमा। णो आया मणे, अण्णे मणे। मणिज्जमाणे मणे...।

३. प्रश्नव्याकरण (आश्रव द्वार) २ : मणं च मणजीविया वयंति त्ति...।

४. सूयगडो,१/१२, वृत्ति : सर्वविषयमन्तःकरणं युगपज्ज्ञानानुपत्तिलिङ्गं मनः, तदपि द्रव्यमनः पौद्गलिकमजीवग्रहणेन गृहीतम्, भावमनस्तु आत्मगुणत्वात् जीवग्रहणेनेति...।

५. चिंता–यह कैसे हुआ? यह कैसे करना चाहिए? यह कैसे होगा? इस प्रकार का पर्यालोचन।

६. विमर्श–यह इसी प्रकार हो सकता है, यह इसी प्रकार हुआ है, यह इसी प्रकार होगा–ऐसा निर्णय।[१]

मन का लक्षण

अर्थों को जानने वाला ज्ञान 'मन' है। इस विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं–मूर्त और अमूर्त। इन्द्रियां सिर्फ मूर्त द्रव्य की वर्तमान पर्याय को ही जानती हैं। मन मूर्त और अमूर्त दोनों के त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, इसलिए मन को सर्वार्थग्राही कहा गया है।[२]

मन का कार्य

मन का कार्य है–चिंतन करना। वह इन्द्रिय के द्वारा गृहीत वस्तुओं के बारे में भी सोचता है और उससे आगे भी।[३] मन इन्द्रिय ज्ञान का प्रवर्तक है। मन को सब जगह इन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। जब इन्द्रिय द्वारा ज्ञात रूप, रस आदि का विशेष पर्यालोचन करता है, तब ही वह इन्द्रिय सापेक्ष होता है। इन्द्रिय की गति सिर्फ पदार्थ तक है। मन की गति पदार्थ और इन्द्रिय दोनों तक है।

ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान आगम आदि-आदि मानसिक चिंतन के विविध पहलू हैं।

मन का अस्तित्व

न्यायसूत्रकार–'एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते'–इस अनुमान से मन की सत्ता बतलाते हैं।[४]

वात्स्यायन भाष्यकार कहते हैं–'स्मृति आदि ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता और विभिन्न इन्द्रिय तथा उनके विषयों के रहते हुए भी एक साथ सबका ज्ञान नहीं होता, इससे मन का अस्तित्व अपने आप उतर आता है।'[५]

अन्नभट्ट ने सुखादि की प्रत्यक्ष उपलब्धि को मन का लिंग माना है।[६]

जैन दृष्टि के अनुसार संशय, प्रतिभा, स्वप्न ज्ञान, वितर्क, सुख–दुःख, क्षमा, इच्छा आदि-आदि मन के लिंग हैं।[७]

---

१. नंदी, सूत्र ६२।

२. जैन सिद्धांत दीपिका, २/३३।

३. चरक सूत्र, १/२० : इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि, समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसाप्यूर्ध्वं, गुणतो दोषतो यथा॥

४. न्यायसूत्र, १/१/१६ : युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्

५. वात्स्यानभाष्य १/१/१६।

६. तर्कसंग्रह : सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।

७. सन्मति प्रकरण, कांड २ वृत्ति : संशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहासुखादिक्षमेच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि...।

मन का विषय

मन का विषय 'श्रुत' है। श्रुत का अर्थ है–शब्द, संकेत आदि के माध्यम से होने वाला ज्ञान। कान से 'देवदत्त' शब्द सुना, आंख से पढ़ा, फिर भी कान और आंख को शब्द मात्र का ज्ञान होगा, किंतु 'देवदत्त' शब्द का अर्थ क्या है–यह ज्ञान उन्हें नहीं होगा। यह मन को होगा। अंगुली हिलती है, यह चक्षु का विषय है, किंतु वह किस वस्तु का संकेत करती है, यह चक्षु नहीं जान पाता। उसके संकेत को समझना मन का काम है।[१] वस्तु के सामान्य रूप का ग्रहण, अवग्रहण, ज्ञान धारा का प्राथमिक अल्प अंश अनक्षर ज्ञान होता है। उसमें शब्द-अर्थ का संबंध, पूर्वापर का अनुसंधान, विकल्प एवं विशेष धर्मों का पर्यालोचन नहीं होता।

ईहा से साक्षात् चिंतन शुरू हो जाता है। इसका कारण यह है कि अवग्रह में पर्यालोचन नहीं होता। आगे पर्यालोचन होता है। यावन्मात्र पर्यालोचन है, वह अक्षर आलंबन से ही होता है और यावन्मात्र साभिलाप या अंतर्जल्पाकार ज्ञान होता है, वह सब मन का विषय है।

प्रश्न हो सकता है कि ईहा, अवाय, धारणा इन्द्रिय परिधि में भी सम्मिलित किए गए हैं, वह फिर कैसे? उत्तर स्पष्ट है–इन भेदों का आधार ज्ञानधारा का प्रारंभिक अंश है। वह जिस इन्द्रिय से आरंभ होता है, उसकी अंत तक वही संज्ञा रहती है।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा–यह ज्ञानधारा का एक क्रम है। इसका मूल है अवग्रह। वह मन संपृक्त इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ के संपर्क या सामीप्य में होता है। आगे स्थिति बदल जाती है। ईहा आदि ज्ञान इन्द्रिय संपृक्त मन के द्वारा पदार्थ की असंबद्ध दशा में होता है, फिर भी उत्पत्ति स्रोत की मुख्यता के कारण ये अपनी-अपनी परिधि से बाहर नहीं जाते।

मनोमूलक अवग्रह के बाद होने वाले ईहा आदि मन के होते हैं। मन मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान दोनों का साधन है। यह जैसे श्रुत शब्द के माध्यम से पदार्थ को जानता है, वैसे ही शब्द का सहारा लिए बिना शब्द आदि की कल्पना से रहित शुद्ध अर्थ को भी जानता है, फिर भी अर्थाश्रयी ज्ञान (शुद्ध अर्थ का ज्ञान) इन्द्रिय और मन दोनों को होता है, शब्दाश्रयी ज्ञान (शब्द का अनुसारी ज्ञान) केवल मन को ही होता है, इसलिए स्वतंत्र रूप में मन का विषय 'श्रुत' ही है।

इन्द्रिय और मन

मन के व्यापार में इन्द्रिय का व्यापार होता भी है और नहीं भी। इन्द्रिय के व्यापार में मन का व्यापार अवश्य होता है। मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरू होता है। वह पटुतर है, पदार्थ के साथ संबंध होते ही पदार्थ को जान लेता है। उसका अनुपलब्धि-काल नहीं होता, इसलिए उसे व्यंजनावग्रह की आवश्यकता नहीं होती।

इन्द्रिय के साथ मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरू होता है। सब इन्द्रियों के साथ मन युगपत् संबंध नहीं कर सकता, एक काल में एक इन्द्रिय के साथ ही करता है। आत्मा उपयोगमय है। वह जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मनोयोग कर जिस वस्तु में उपयोग लगाता

---

१. चरक सूत्र, १/१८ : चिन्त्यं विचार्यमुह्यं च, ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत् किञ्चिद् मनसो ज्ञेयं, तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥

है, तब वह तन्मयोपयोग हो जाता है। इसलिए युगपत् क्रिया द्वय का उपयोग नहीं होता।[१] देखना, चखना, सूंघना–ये भिन्न-भिन्न क्रियाएं हैं। इनमें एक साथ मन की गति नहीं होती, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। पैर की गर्मी और सिर की ठंडक दोनों एक स्पर्शन इन्द्रिय की क्रियाएं हैं, उनमें भी मन एक साथ नहीं दौड़ता।

ककड़ी को खाते समय उसके रूप, रस, स्पर्श, गंध और शब्द–सबका ज्ञान एक साथ होता-सा लगता, किंतु वास्तव में वैसा नहीं होता। उनका ज्ञान काल पृथक्-पृथक् होता है। मन की ज्ञान शक्ति अति तीव्र होती है, इसलिए उसका क्रम जाना नहीं जाता। युगपत् सामान्य विशेष आदि अनेक धर्मात्मक वस्तु का ग्रहण हो सकता है, किंतु दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते।[२]

मन का स्थान

मन समूचे शरीर में व्याप्त है। इन्द्रिय और चैतन्य की पूर्ण व्याप्ति 'जहां-जहां चैतन्य, वहां-वहां इन्द्रिय' का नियम नहीं होता। मन की चैतन्य के साथ पूर्ण व्याप्ति होती है, इसलिए मन शरीर के एक देश में नहीं रहता, उसका कोई नियत स्थान नहीं है। जहां–जहां चैतन्य की अनुभूति है, वहां–वहां मन अपना आसन बिछाए हुए है।

इन्द्रिय ज्ञान के साथ भी मन का साहचर्य है। स्पर्शन इन्द्रिय समूचे शरीर में व्याप्त है।[३] उसे अपने ज्ञान में मन का साहचर्य अपेक्षित है। इसलिए मन का भी सकल शरीर व्याप्त होना सहज सिद्ध है। योग परंपरा में यही तथ्य मान्य है।[४]

'यत्र पवनस्तत्र मनः'–इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार जहां पवन है, वहां मन है। पवन समूचे शरीर में है, यही बात मन के लिए है।

दिगम्बर आचार्य द्रव्य मन का स्थान नाभि कमल मानते हैं। श्वेताम्बर आचार्य इसे स्वीकार नहीं करते। मन का एकमात्र नियत स्थान भले ही न हो, किंतु उसके सहायक कई विशेष केन्द्र होने चाहिए। मानसिक चिंतन मस्तिष्क के संतुलन पर बहुत निर्भर है, इसलिए सामान्य अनुभूति के अतिरिक्त अथवा इन्द्रिय साहचर्य के अतिरिक्त उसके चिंतन का साधनभूत कोई शारीरिक अवयव प्रमुख केन्द्र माना जाए, उसमें आपत्ति जैसी कोई बात नहीं लगती।

ज्ञान शक्ति की दृष्टि से इन्द्रियां भी सर्वात्मव्यापी हैं। विषय ग्रहण की अपेक्षा एक देशी हैं, इसलिए वे नियत देशाश्रयी कहलाती हैं। इन्द्रिय और मन–ये दोनों 'क्षायोपशमिक आवरण

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २४२६–२४४८ वृत्ति...।

२. (क) स्थानांग वृत्ति १ : एगे णाणे...लब्धितो बहूनां बोधविशेषाणामेकदा सम्भवेऽपि उपयोगत एक एव सम्भवति एकोपयोगत्वाद् जीवानामिति...।

(ख) वही–एगे जीवाणं मणे...मननलक्षणत्वेन सर्वमनसामेकत्वात्...।

(ग) वही–एगे मणे देवासुर मणुआणं तंसि तंसि समयंसि।

तुलना–न्याय सूत्र ३/२/५९।–ज्ञानाऽयौगपद्यात् एकं मन....।

३. चरक सूत्र, ११/३९ : तुलना–स्पर्शन इन्द्रिय को सर्वेन्द्रिय व्यापक और मन के साथ समवाय–संबंध से संबद्ध माना है। मन अणु होने पर भी स्पर्शन इन्द्रिय–संबद्ध होने के कारण सब इन्द्रियों में व्यापक रहता है।

४. योगशास्त्र ५/२ : मनो यत्र मरुत्तत्र, मरुद् यत्र मनस्ततः। अतस्तुल्यक्रियावेतौ, संवीतौ क्षीरनीरवत्॥

विलय जन्य' विकास हैं। आवरण विलय सर्वात्म-प्रदेशों का होता है।[१] मन विषय ग्रहण की अपेक्षा से भी शरीरव्यापी है।

नैयायिक मन को अणु मानते हैं–इसे **मनोऽणुत्ववाद** कहा जाता है।[२] बौद्ध मन को ही जीव मानते हैं–यह मनोजीववाद कहलाता है।[३] जैन सम्मत मन न अणु है और न वही मात्र जीव, किंतु वह जीव के चैतन्य गुण की एक स्थिति है और जीव की व्याप्ति के साथ उसकी व्याप्ति का नियम है-'जहां जीव वहां मन'।

श्रुतज्ञान

अमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है, इस प्रकार जो वाच्य-वाचक की संबंध योजना होती है, वह श्रुत है। शब्द में अर्थ ज्ञान कराने की शक्ति होती है, पर प्रयोग किए बिना वह अर्थ का ज्ञान नहीं कराता। श्रुत शब्द की प्रयोग दशा है। 'घड़ा'-इस दो अक्षर वाले शब्द का अर्थ दो प्रकार से जाना जा सकता है–(१) या तो बना बनाया घड़ा सामने हो, (२) घट स्वरूप की व्याख्या पढ़ने या सुनने को मिले।

इनमें पहला श्रुत का अननुसारी, किंतु श्रुत निश्रित ज्ञान है। घट सामने आया और जलादि आहरण-क्रिया-समर्थ मृन्मयादि घट को जान लिया। यहां ज्ञान काल में श्रुत का सहारा नहीं लिया गया, इसलिए यह श्रुत का अनुसारी नहीं है, किंतु इससे पूर्व 'घट' शब्द का वाच्यार्थ यह पदार्थ होता है-यह जाना हुआ था, इसलिए वह श्रुत निश्रित है।[४] 'घट' शब्द का वाच्यार्थ यह पदार्थ होता है, ऐसा पहले जाना हुआ न हो तो घट के सामने आने पर भी 'यह घट शब्द का वाच्यार्थ है'–ऐसा ज्ञान नहीं होता।

दूसरा श्रुतानुसारी ज्ञान है। 'घट अमुक-अमुक लक्षण वाला पदार्थ होता है'–यह या तो कोई बताए अथवा किसी श्रुत ग्रंथ का लिखित प्रकरण मिले, जब जाना जाता है। बताने वाले का वचन और लिखित शब्दावली को द्रव्य श्रुत, श्रुतज्ञान का साधन कहा जाता है और उसके अनुसार पढ़ने-सुनने वाले व्यक्ति को जो ज्ञान होता है, वह भाव श्रुत, श्रुत ज्ञान कहलाता है।

श्रुत ज्ञान की प्रक्रिया

१. द्रव्य श्रुत–वक्ता के वचनाभिमुख विचार।

२. वचन–वक्ता के लिए वचन योग और श्रोता के लिए द्रव्य श्रुत।

३. मति–श्रुत ज्ञान के प्रारंभ में होने वाला मत्यंश-इन्द्रिय ज्ञान।

४. भाव श्रुत–इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा हुए शब्द ज्ञान और संकेत ज्ञान के द्वारा होने वाला अर्थ ज्ञान।

---

१. भगवई, १/१२८ : सव्वेणं सव्वे निज्जिण्णा...।

२. भाषापरिच्छेद : अयौगपद्यात् ज्ञानानां, तस्याणुत्वमिहोच्यते...।

३. अभिधम्मकोष, ४/१ : चेतना मानसं कर्म।

४. कर्म विवरण, गाथा ४, देवेन्द्रसूरीकृत स्वोपज्ञ वृत्ति।

वक्ता बोलता है, वह उसकी अपेक्षा वचन योग है। श्रोता के लिए वह भाव श्रुत का साधन होने के कारण द्रव्य श्रुत है।[१] वक्ता भी भाव श्रुत को–वचनाभिमुख ज्ञान को वचन के द्वारा व्यक्त करता है। वह एक व्यक्ति का ज्ञान दूसरे व्यक्ति के पास पहुंचाता है, वह श्रुत ज्ञान है।

श्रुत ज्ञान श्रुत ज्ञान तक पहुंचे उसके बीच की प्रक्रिया के दो अंश हैं–द्रव्य श्रुत और मत्यंश।

एक व्यक्ति के विचार को दूसरे व्यक्ति तक ले जाने के दो साधन हैं–वचन और संकेत। वचन और संकेत को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां हैं। श्रोता अपनी इन्द्रियों से उन्हें ग्रहण करता है, फिर उनके द्वारा वक्ता के अभिप्राय को समझता है। इसका रूप इस प्रकार बनता है–

वक्ता का भाव श्रुत
|
वचन
|
इन्द्रिय
|
श्रोता का भाव श्रुत

मति-श्रुत की साक्षरता और अनक्षरता

१. श्रुत-अननुसारी साभिलाप (शब्द सहित) ज्ञान–मति ज्ञान।

२. श्रुत-अनुसारी साभिलाप (शब्द सहित) ज्ञान–श्रुत ज्ञान।

मति ज्ञान साभिलाप और अनभिलाप दोनों प्रकार का होता है। श्रुत ज्ञान केवल साभिलाप होता है।[२] अर्थावग्रह साभिलाप नहीं होता। मति के शेष सब प्रकार (ईहा से अनुमान तक) साभिलाप होते हैं। श्रुत ज्ञान अनभिलाप नहीं होता, किंतु साभिलाप ज्ञान मात्र श्रुत होना चाहिए–यह बात नहीं है। कारण कि ज्ञान साक्षर होने मात्र से श्रुत नहीं कहलाता। जब तक वह स्वार्थ रहता है, तब तक साक्षर होने पर भी मति कहलाएगा। साक्षर ज्ञान परार्थ या परोपदेश क्षम या वचनाभिमुख होने की दशा में श्रुत बनता है। ईहा से लेकर स्वार्थानुमान तक के ज्ञान परार्थ नहीं होते-वचनात्मक नहीं होते, इसलिए 'मति' कहलाते हैं। शब्दावली के माध्यम से मनन या विचार करना और शब्दावली के द्वारा मनन या विचार का प्रतिपादन करना-व्यक्त करना, ये दो बातें हैं। मति ज्ञान साक्षर हो सकता है, किंतु वचनात्मक या परोपदेशात्मक नहीं होता। श्रुत ज्ञान साक्षर होने के साथ-साथ वचनात्मक होता है।[३]

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ९९ वृत्ति...।

२. वही, गाथा १०० वृत्ति...।

३. (क) अनुयोगद्वार, २ : तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं।
   (ख) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १०० वृत्ति...।

ज्ञान दो प्रकार का होता है–अर्थाश्रयी और श्रुताश्रयी। पानी को देखकर आंख को पानी का ज्ञान होता है, यह अर्थाश्रयी ज्ञान है। 'पानी' शब्द के द्वारा जो 'पानी द्रव्य' का ज्ञान होता है, वह श्रुताश्रयी ज्ञान है। इन्द्रियों को सिर्फ अर्थाश्रयी ज्ञान होता है। मन को दोनों प्रकार का ज्ञान होता है। श्रोत्र 'पानी' शब्द मात्र को सुनकर जान लेगा, किंतु पानी का अर्थ क्या है, पानी शब्द किस वस्तु का वाचक है–यह श्रोत्र नहीं जान सकता। 'पानी' शब्द का अर्थ 'यह पानी द्रव्य है'–ऐसा ज्ञान मन को होता है। इस वाच्य-वाचक के संबंध से होने वाले ज्ञान का नाम श्रुत ज्ञान, शब्द ज्ञान या आगम है। श्रुत ज्ञान का पहला अंश, जैसे–शब्द सुना या पढ़ा, वह मति ज्ञान है और दूसरा अंश, जैसे–शब्द के द्वारा अर्थ को जाना, यह श्रुत ज्ञान है। इसीलिए श्रुत को मतिपूर्वक–'मइपुव्वं सुयं' कहा जाता है।[१]

मति ज्ञान की विषय-वस्तु अवग्रहादि काल में उसके प्रत्यक्ष होती है। श्रुत ज्ञान का विषय उसके प्रत्यक्ष नहीं होता। 'मेरु' शब्द के द्वारा 'मेरु' अर्थ का ज्ञान करते समय वह मेरु अर्थ प्रत्यक्ष नहीं होता–मेरु शब्द प्रत्यक्ष होता है, जो श्रुत ज्ञान का विषय नहीं है।

श्रुत ज्ञान अवग्रहादि मतिपूर्वक होता है और अवग्रहादि मति श्रुत निश्रित होती है। इससे इनका अन्योन्यानुगत-भाव जान पड़ता है। कार्यक्षेत्र में ये एक नहीं रहते। मति का कार्य है–उसके सम्मुख आए हुए स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द आदि अर्थों को जानना और उनकी विविध अवस्थाओं पर विचार करना। श्रुत का कार्य है–शब्द के द्वारा उसके वाच्य अर्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को फिर से शब्द के द्वारा प्रतिपादन करने में समर्थ होना। मति को कहना चाहिए अर्थ ज्ञान और श्रुत को शब्दार्थ ज्ञान।

कार्य-कारण भाव

मति और श्रुत का कार्य-कारण संबंध है। मति कारण है और श्रुत कार्य। श्रुत ज्ञान शब्द, संकेत और स्मरण अर्थ बोध है। अमुक अर्थ का अमुक संकेत होता है, यह जानने के बाद ही उस शब्द के द्वारा उसके अर्थ का बोध होता है। संकेत को मति जानती है। उसके अवग्रहादि होते हैं, फिर श्रुत ज्ञान होता है।

द्रव्य श्रुत मति (श्रोत्र) ज्ञान का कारण बनता है, किंतु भाव श्रुत उसका कारण नहीं बनता, इसलिए मति को श्रुतपूर्वक नहीं माना जाता। दूसरी दृष्टि से द्रव्य श्रुत श्रोत्र का कारण नहीं, विषय बनता है। कारण तब कहना चाहिए, जबकि श्रूयमाण शब्द के द्वारा श्रोत्र को उसके अर्थ की जानकारी मिले। वैसा होता नहीं। श्रोत्र को शब्द मात्र का बोध होता है। श्रुत निश्रित मति भी श्रुत ज्ञान का कार्य नहीं होती। 'अमुक लक्षण वाला कंबल होता है'–यह परोपदेश या श्रुत ग्रंथ से जाना और वैसे संस्कार बैठ गए। कंबल को देखा और जान लिया कि यह कंबल है। यह ज्ञान पूर्व संस्कार से उत्पन्न हुआ, इसलिए इसे श्रुत निश्रित कहा जाता है।[२] ज्ञान काल में यह 'शब्द' से उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिए इसे श्रुत का कार्य नहीं माना जाता।

---

१ नंदी, सूत्र ३५

२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १६८ वृत्ति...।

अवधि-ज्ञान

यह मूर्त द्रव्यों को साक्षात् करने वाला ज्ञान है। मूर्तिमान द्रव्य ही इसके ज्ञेय विषय की मर्यादा है। इसलिए यह अवधि कहलाता है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा इसकी अनेक इयत्ताएं बनती हैं। जैसे–इतने क्षेत्र और काल में इतने द्रव्य और इतने पर्यायों का ज्ञान करता है, इसलिए इसे अवधि कहा जाता है।

अवधि ज्ञान के छह प्रकार हैं–

१. अनुगामी–जिस क्षेत्र में अवधि ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके अतिरिक्त क्षेत्र में भी बना रहे–वह अनुगामी है।

२. अननुगामी–उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त क्षेत्र में बना न रहे–वह अननुगामी है।

३. वर्धमान–उत्पत्ति काल में कम प्रकाशवान हो और बाद में क्रमशः बढ़े–वह वर्धमान है।

४. हीयमाण–उत्पत्ति काल में अधिक प्रकाशवान हो और बाद में क्रमशः घटे–वह हीयमान है।

५. अप्रतिपाती–आजीवन रहने वाला अथवा केवल ज्ञान उत्पन्न होने तक रहने वाला अप्रतिपाती है।

६. प्रतिपाती–उत्पन्न होकर जो वापस चला जाए, वह प्रतिपाती है।[१]

मनःपर्यव ज्ञान

यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्‌गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। चिंतक जो सोचता है, उसी के अनुरूप चिंतन प्रवर्तक पुद्‌गल द्रव्यों की आकृतियां-पर्यायें बन जाती हैं। वे मनःपर्यव के द्वारा जानी जाती हैं, इसलिए इसका नाम है–मन की पर्यायों को साक्षात् करने वाला ज्ञान।[२]

अवधि और मनःपर्याय की स्थिति

मानसिक वर्गणाओं की पर्याय अवधि ज्ञान का भी विषय बनती है, फिर भी मनःपर्यव मानसिक पर्यायों का विशेषज्ञ है। एक डॉक्टर वह है, जो समूचे शरीर की चिकित्सा विधि जानता है और एक वह है, जो आंख का, दांत का, एक अवयव का विशेष अधिकारी होता है। यही स्थिति अवधि और मनःपर्यव की है।

विश्व के मूल में दो श्रेणी के तत्त्व हैं–पौद्‌गलिक और अपौद्‌गलिक। पौद्‌गलिक (मूर्त तत्त्व) इन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय दोनों प्रकार के क्षायोपशमिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है। अपौद्‌गलिक (अमूर्त तत्त्व) केवल क्षायिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है।

चिंतक मूर्त के बारे में सोचता है, वैसे अमूर्त के बारे में भी। मनःपर्यवज्ञानी अमूर्त पदार्थ को साक्षात् नहीं कर सकता। वह द्रव्य मन के साक्षात्कार के द्वारा जैसे आत्मीय चिंतन को जानता है,

---

१. नंदी, सूत्र ९

२. वही, सूत्र २३

वैसे ही उसके द्वारा चिंतनीय पदार्थों को जानता है।[१] इसमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है, फिर भी वह परोक्ष नहीं होता। कारण कि मनःपर्यव ज्ञान का मूल विषय मनो द्रव्य की पर्यायें हैं। उनका साक्षात्कार करने में उसे अनुमान आदि किसी भी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं होती।

केवलज्ञान

केवल शब्द का अर्थ एक या असहाय होता है।[२] ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान के अवांतर भेद मिटकर ज्ञान एक हो जाता है, फिर उसे इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती, इसलिए वह केवल कहलाता है।

गौतम ने पूछा–भगवन्! केवली इन्द्रिय और मन से जानता और देखता है?

भगवान–गौतम! नहीं जानता-देखता।

गौतम–भगवन्! ऐसा क्यों होता है?

भगवान–गौतम! केवली पूर्व दिशा (या आगे) में मित को भी जानता है और अमित को भी जानता है। वह इन्द्रिय का विषय नहीं है।[३]

केवल का दूसरा अर्थ 'शुद्ध' है।[४] ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान में अशुद्धि का अंश भी शेष नहीं रहता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का तीसरा अर्थ 'संपूर्ण' है।[५] ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान की अपूर्णता मिट जाती है, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का चौथा अर्थ 'असाधारण' है।[६] ज्ञानावरण का विलय होने पर जैसे ज्ञान होता है, वैसा दूसरा नहीं होता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का पांचवा अर्थ 'अनंत' है।[७] ज्ञानावरण का विलय होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह फिर कभी आवृत नहीं होता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल शब्द के चार अर्थ 'सर्वज्ञता' से संबंधित नहीं हैं। आवरण का क्षय होने पर ज्ञान एक, शुद्ध, असाधारण और अप्रतिपाती होता है। इसमें कोई लंबा-चौड़ा विवाद नहीं है। विवाद का विषय है ज्ञान की पूर्णता। कुछ तार्किक लोग ज्ञान की पूर्णता का अर्थ बहुश्रुतता करते हैं और कुछ सर्वज्ञता।

जैन परंपरा में सर्वज्ञता का सिद्धांत मान्य रहा है। केवलज्ञानी केवलज्ञान उत्पन्न होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है।[८]

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८१४ वृत्ति....।

२. वही, गाथा ८४ : केवलमेगं सुद्धं सगलमसाहारणं अणंतं च।

३. भगवई,६/१८७,१८८

४. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८४ वृत्ति : शुद्धम्–निर्मलम्–सकलावरणमलकलंकविगमसंभूतत्वात्।

५. वही, : सकलम्–परिपूर्णम्–संपूर्णज्ञेयग्राहित्वात्।
असाधारणम्–अनन्यसदृशम् तादृशापरज्ञानाभावात्।
अनंतम्–अप्रतिपातित्वेन विद्यमानपर्यन्तत्वात्।

६,७. वही, गाथा ८४ वृत्ति...........।

८. दसवेआलियं, ४/२२

केवल ज्ञान का विषय सब द्रव्य और पर्याय हैं। श्रुत ज्ञान के विषय को देखते हुए वह अयुक्त भी नहीं लगता। मति को छोड़ शेष चार ज्ञान के अधिकारी केवली कहलाते हैं–श्रुत केवली,[१] अवधि ज्ञान केवली, मनः पर्यव ज्ञान केवली और केवलज्ञान केवली।[२] इनमें श्रुत केवली और केवलज्ञान केवली का विषय समान है। दोनों सब द्रव्यों और सब पर्यायों को जानते हैं। इनमें केवल जानने की पद्धति का अंतर रहता है। श्रुत केवली शास्त्रीय ज्ञान के माध्यम से तथा क्रमशः जानता है और केवलज्ञान-केवली उन्हें साक्षात् तथा एक साथ जानता है।

ज्ञान की कुशलता बढ़ती है, तब एक साथ अनेक विषयों का ग्रहण होता है। एक क्षण में अनेक विषयों का ग्रहण नहीं होता, किंतु ग्रहण का काल इतना सूक्ष्म होता है कि वहां काल का क्रम नहीं निकाला जा सकता। केवल ज्ञान ज्ञान के कौशल का चरम रूप है। वह एक क्षण में भी अनेक विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होता है। हम अपने ज्ञान के क्रम से उसे नापें तो वह अवश्य ही विवादास्पद बन जाएगा। उसे संभावना की दृष्टि से देखें तो वह विवाद मुक्त भी है।

निरूपण एक ही विषय का हो सकता है। यह भूमिका दोनों की समान है। सहज स्थिति में सांकर्य नहीं होता। वह क्रियमाण कार्य में होता है। ज्ञान आत्मा की सहज स्थिति है। वचन एक कार्य है। कार्य में केवली और अकेवली का कोई भेद नहीं है। केवल ज्ञान की विशेषता सिर्फ जानने में ही है।

ज्ञेय और ज्ञान-विभाग

ज्ञेय के आधार पर ज्ञान के दो वर्ग बनते हैं। एक वर्ग है श्रुत और केवल का, दूसरा है मति, अवधि और मनःपर्यव का। पहले वर्ग का ज्ञेय सर्व है और दूसरे वर्ग का ज्ञेय असर्व।

ज्ञेय को जानने की पद्धति के आधार पर भी ज्ञान के दो वर्ग होते हैं। एक वर्ग में मति और श्रुत आते हैं, दूसरे में अवधि, मनःपर्यव और केवल।

पहले वर्ग का ज्ञेय इन्द्रिय और मन के माध्यम से जाना जाता है और दूसरे का ज्ञेय इनके बिना ही जाना जाता है। ज्ञेय की द्विविधता के आधार पर भी ज्ञान दो वर्गों में विभक्त हो सकता है। पहले वर्ग में मति, अवधि और मनःपर्याय हैं, दूसरे में श्रुत और केवल।

पहले वर्ग के द्वारा सिर्फ मूर्त द्रव्य ही जाना जा सकता है। दूसरे के द्वारा मूर्त और अमूर्त–दोनों प्रकार के ज्ञेय जाने जा सकते हैं।

ज्ञान की नियामक शक्ति

हम आंख से देखते हैं, तब कान से नहीं सुनते। कान से सुनते हैं, तब अनुभव नहीं करते। संक्षेप में हम एक साथ दो ज्ञान नहीं करते। यह हमारे ज्ञान की इयत्ता है। सीमा है। भिन्न-भिन्न दर्शनों ने ज्ञान की इयत्ता के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न प्रस्तुत किए हैं। ज्ञान अर्थोत्पन्न और अर्थाकार नहीं होता, इसलिए वे उसकी इयत्ता के नियामक नहीं बनते।[३] मन अणु नहीं, इसलिए

१. अभिधान चिंतामणि, १/३१

२. ठाणं ३/५१३ : तओ केवली पण्णत्ता तंजहा–ओहिणाणकेवली, मणपज्जवनाणकेवली, केवल–नाणकेवली।

३. प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ४/४७

वह ज्ञान की इयत्ता का नियामक नहीं बन सकता।[१] जैन दृष्टि के अनुसार ज्ञान की इयत्ता का नियामक तत्त्व उसके आवरण विलय से उत्पन्न होने वाली आत्मिक योग्यता है। आवरण विलय आंशिक होता है तब एक साथ अनेक विषयों को जानने की योग्यता नहीं होती। योग्यता की कमी के कारण जिस समय जिस विषय में आत्मा व्यापृत होती है, उस समय उसी विषय को जान सकते हैं। वस्तु को जानने का अव्यवहित साधन इन्द्रिय और मन का व्यापार (उपयोग) है। वह योग्यता के अनुरूप होता है। यही कारण है कि हम एक साथ अनेक विषयों को नहीं जान सकते। चेतना की निरावरण दशा में सब पदार्थ युगपत जाने जा सकते हैं।

ज्ञान आत्मा का अक्षय आलोक है। वह सब आत्माओं में समान है। वह स्वयं प्रकाशी है, सदा जानता रहता है। यह सिद्धांत की भाषा है। हमारा दर्शन इसके विपरीत है। ज्ञान कभी न्यून होता है और कभी अधिक। सब जीवों में ज्ञान की तरतमता है। वह बाहरी साधनों के अभाव में नहीं जानता और कभी जानता है और कभी नहीं जानता।

सिद्धांत और हमारे प्रत्यक्ष दर्शन में जो विरोध है, उसका समाधान इन शब्दों में है। आत्मा और ज्ञान की स्थिति वही है, जो सिद्धांत की भाषा में निरूपित हुई है। जो विरोध दीखता है, वह भी सही है। दोनों के पीछे दो दृष्टियां हैं।

आत्मा के दो रूप हैं—आवृत और अनावृत। आत्मा ज्ञानावरण के परमाणुओं से आवृत होता है, तब वही स्थिति बनती है, जो हमें दीखती है। वह ज्ञानावरण के परमाणुओं से अनावृत होता है, तब वही स्थिति बनती है, जो हमें विपरीत लगती है।

ज्ञान एक है, इसलिए उसे केवल कहा जाता है। वह 'सर्व ज्ञानावरण' से आवृत रहता है, उस स्थिति में आत्मा निर्बाध ज्ञानमय नहीं होता। आत्मा और अनात्मा की भेद रेखा मिट जाए, वैसा आवरण कभी नहीं होता। केवल ज्ञान का अल्पतम भाग सदा अनावृत रहता है।[२] आत्मा का आत्मत्व यही है कि वह कभी भी ज्ञान शक्ति से शून्य नहीं होता।

विशुद्ध प्रयत्न से आवरण जितना क्षीण होता है, उतना ही ज्ञान विकसित हो जाता है। ज्ञान के विकास की न्यूनतम मात्रा और अनावृत ज्ञान के मध्यवर्ती ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म परमाणु 'देश ज्ञानावरण' कहलाते हैं।[३]

सर्व ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान का कोई भेद नहीं रहता, आत्मा ज्ञानमय बन जाता है। यह वह दशा है, जहां ज्ञान और उपयोग दो नहीं रहते।

देश ज्ञानावरण के विलय की मात्रा के अनुसार ज्ञान का विकास होता है, वहां ज्ञान के विभाग बनते हैं, ज्ञान और उपयोग का भेद भी रहता है।

---

१. (क) प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, १/२ : मनःअणुपरिमाणं न भवति, इन्द्रियत्वात्, नयनवत्। न च शरीरव्यापित्वे युगपज्ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः : तादृशक्षयोपशमविशेषेणैव तस्य कृतोत्तरत्वात्।

(ख) 'मनोणुवाद' की जानकारी के लिए देखें—१. न्यायसिद्धांतमुक्तावलिकारिका २. न्यायालोक, ४/११

२. नंदी, सूत्र ७१

३. ठाणं, २। ४२४ : णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—देसणाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव।

केवली के सर्व ज्ञानावरण का विलय होता है। वे सदा जानते हैं और सब पर्यायों को जानते हैं।

छद्मस्थ के देश ज्ञानावरण का विलय होता है। वे जानने को तत्पर होते हैं, तभी जानते हैं और जिस पर्याय को जानने का प्रयत्न करते हैं, उसी को जानते हैं।

ज्ञान शक्ति का पूर्ण विकास होने पर जानने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, ज्ञान सतत प्रवृत्त रहता है।

ज्ञान शक्ति के अपूर्ण विकास की दशा में जानने का प्रयत्न किए बिना जाना नहीं जाता। इसलिए वहां जानने की क्षमता और जानने की प्रवृत्ति दो बन जाते हैं।

छद्मस्थ ज्ञानावरण के विलय की मात्रा के अनुसार जान सकता है, इसलिए क्षमता की दृष्टि से वह अनेक पर्यायों का ज्ञाता है, किंतु उसका ज्ञान निरावरण नहीं होता, इसलिए वह एक काल में एक पर्याय को ही जान सकता है।

ज्ञाता और ज्ञेय का संबंध

ज्ञाता ज्ञान स्वभाव है और अर्थ ज्ञेय स्वभाव। दोनों स्वतंत्र हैं। एक का अस्तित्व दूसरे से भिन्न है। इन दोनों में विषय-विषयीभाव संबंध है। अर्थ ज्ञान-स्वरूप नहीं है, ज्ञान ज्ञेय-स्वरूप नहीं है–दोनों अन्योन्य-वृत्ति नहीं हैं।

ज्ञान ज्ञेय में प्रविष्ट नहीं होता। ज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता। दोनों का परस्पर प्रवेश नहीं होता।

ज्ञाता की ज्ञायक पर्याय और अर्थ की ज्ञेय पर्याय के सामर्थ्य से दोनों का संबंध जुड़ता है।[१]

ज्ञान-दर्शन विषयक तीन मान्यताएं

आत्मा को आवृत दशा में ज्ञान होते हुए भी उसकी सतत प्रवृत्ति (उपयोग) नहीं होती और जो होती है उसका एक क्रम है–पहले दर्शन की प्रवृत्ति होती है, फिर ज्ञान की।

गौतम ने पूछा–'भगवन्! छद्मस्थ मनुष्य परमाणु को जानता है, पर देखता नहीं, यह सच है? अथवा जानता भी नहीं, देखता भी नहीं, यह सच है?'

भगवान ने कहा–'गौतम! कई छद्मस्थ विशिष्ट श्रुतज्ञान से परमाणु को जानते हैं, पर दर्शन के अभाव में देख नहीं सकते और कई जो सामान्य श्रुतज्ञानी होते हैं, वे न तो उसे जानते है और न देखते हैं।'

गौतम–'भगवन्! परम अवधिज्ञानी परमाणु को जिस समय जानते हैं, उस समय देखते हैं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते हैं?'

भगवान–'गौतम! नहीं, वे जिस समय परमाणु को जानते हैं, उस समय देखते नहीं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं।'

गौतम–'भगवन्! ऐसा क्यों नहीं होता?'

---

१. प्रवचनसार, १/२७-३०

भगवान–'गौतम! ज्ञान साकार होता है और दर्शन अनाकार, इसलिए दोनों एक साथ नहीं हो सकते।'[१]

यह केवल ज्ञान और केवल दर्शन की क्रमिक मान्यता का आगमिक पक्ष है। अनावृत आत्मा में ज्ञान सतत प्रवृत्त रहता है और छद्मस्थ को ज्ञान की प्रवृत्ति करनी पड़ती है। छद्मस्थ को ज्ञान की प्रवृत्ति करने में असंख्य समय लगते हैं और केवली एक समय में ही अपने ज्ञेय को जान लेते हैं। इस पर से यह प्रश्न उठा कि केवली एक समय में समूचे ज्ञेय को जान लेते हैं तो दूसरे समय में क्या जानेंगे? वे एक समय में जान सकते हैं, देख नहीं सकते या देख सकते हैं, जान नहीं सकते तो उनका सर्वज्ञत्व ही टूट जाएगा?

इस प्रश्न के उत्तर में तर्क आगे बढ़ा। दो धाराएं और बन गईं।

केवलज्ञानी जानता-देखता है–जाणई पासई–इन दो पदों का प्रयोग मिलता है। प्रस्तुत सूत्र में साकार और अनाकार उपयोग की चर्चा नहीं है। नंदी में भी उनकी चर्चा नहीं है। भगवती में केवलज्ञान को साकार उपयोग और केवलदर्शन को अनाकार उपयोग बतलाया गया है।[२] केवलज्ञान और केवलदर्शन के उपयोग के बारे में तीन मत मिलते हैं–१. क्रमवाद २. युगपत्वाद ३. अभेदवाद।

क्रमवाद आगमानुसारी है। उसके मुख्य प्रवक्ता हैं जिनभद्रगणि। युगपत्वाद के प्रवक्ता हैं मल्लवादी। अभेदवाद के प्रवक्ता हैं सिद्धसेन दिवाकर।

जिनभद्रगणि ने विशेषणवती में तीनों पक्षों की चर्चा की है, किंतु किसी प्रवक्ता का नामोल्लेख नहीं किया।[३] जिनदास महत्तर ने नंदी चूर्णि (विक्रम की आठवीं शताब्दी) में विशेषणवती को उद्धृत किया है। उन्होंने किसी वाद के पुरस्कर्ता का उल्लेख नहीं किया।[४]

हरिभद्रसूरि (विक्रम की आठवीं शताब्दी) ने चूर्णिगत विशेषणवती की गाथाओं को उद्धृत किया है और पुरस्कर्ता आचार्यों का नामोल्लेख भी किया है। उनके अनुसार युगपत्वाद के प्रवक्ता हैं–आचार्य सिद्धसेन आदि। क्रमवाद के प्रवक्ता हैं जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि। अभेदवाद के प्रवक्ता के रूप में वृद्धाचार्य का उल्लेख किया है।[५]

---

१. भगवई, १८/१७४-१७९

२. (क) भगवई, १६/१०८
   (ख) पण्णवणा, २९/१-३।

३. विशेषणवती, गाथा १५३-१५४ : केयी भणंति जुगवं पासति य केवली नियमा।
अण्णे एगंतरियं इच्छंति सुतोवदेसेणं॥
अण्णे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स।
जं चिय केवलनाणं तं चिय से दंसणं बेंति॥

४. नंदी चूर्णि, पृष्ठ २८-३०।

५. नंदी हरिभद्रीया वृत्ति ४०–केचन सिद्धसेनाचार्यादयः भणंति किम्? युगपद् एकस्मिन्नेव काले जानाति पश्यति च। कः? केवली, न त्वन्यः, नियमाद् नियमेन। अन्ये जिनभद्रगणि–क्षमाश्रमणप्रभृतयः एकान्तरितं जानाति पश्यति चेत्येवमिच्छन्ति श्रुतोपदेशेन यथाश्रुतागमानुसारेणेत्यर्थः। अन्ये तु वृद्धाचार्याः 'न' नैव विष्वक् पृथक् तद्दर्शनमिच्छन्ति जिनवरेन्द्रस्य केवलिनः इत्यर्थः। किं तर्हि? यदेव केवलज्ञानं तदेव तस्य केवलिनो न दर्शनं ब्रुवते, क्षीणावरणस्य देशज्ञानाभावात् केवलदर्शनाभावादिति भावना।

मलयगिरि (विक्रम की बारहवीं शताब्दी) ने हरिभद्रसूरि का ही अनुसरण किया है।[१]

सन्मति के टीकाकार अभयदेवसूरि (विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी) ने तीनों के प्रवक्ताओं के नामों का उल्लेख किया है।[२]

क्रमवाद के प्रवक्ता–जिनभद्र, युगपत्वाद के प्रवक्ता–मल्लवादी, अभेदवाद के प्रवक्ता–सिद्धसेन।

क्रमवाद के विषय में हरिभद्र और अभयदेव एक मत हैं। युगपत्वाद और अभेदवाद के बारे में दोनों के मत भिन्न हैं। सिद्धसेन अभेदवाद के प्रवक्ता हैं, सन्मति तर्क से स्पष्ट है। उन्हें युगपत्वाद का प्रवक्ता नहीं माना जा सकता है। इस स्थिति में युगपत्वाद के प्रवक्ता के रूप में मल्लवादी का नामोल्लेख संगत हो सकता है। उपलब्ध द्वादशार नयचक्र में इस विषय का कोई उल्लेख नहीं है। अभयदेव ने किस ग्रंथ के आधार पर इसका उल्लेख किया, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

दिगम्बर परंपरा में केवल युगपत् पक्ष ही मान्य रहा।[३] श्वेताम्बर परंपरा में इसकी क्रम, युगपत् और अभेद–ये तीन धाराएं बन गईं।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के महान तार्किक यशोविजयजी ने इसका नय दृष्टि से समन्वय किया है।[४] ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से क्रमिक पक्ष संगत है। यह दृष्टि वर्तमान समय को ग्रहण करती है। पहले समय का ज्ञान कारण है और दूसरे समय का दर्शन उसका कार्य है। ज्ञान और दर्शन में कारण और कार्य का क्रम है। व्यवहार नय भेदस्पर्शी है। उसकी दृष्टि से युगपत् पक्ष भी संगत है। संग्रह नय अभेदस्पर्शी है। उसकी दृष्टि से अभेद पक्ष भी संगत है। इन तीनों धाराओं को तर्क दृष्टि से देखा जाए तो इनमें अभेद पक्ष भी संगत लगता है। जानने और देखने का भेद परोक्ष या अपूर्ण ज्ञान की स्थिति में होता है। वहां वस्तु के पर्यायों को जानते समय उसका सामान्य रूप नहीं देखा जा सकता और उसके सामान्य रूप को देखते समय उसके विभिन्न पर्याय नहीं जाने जा सकते। प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञान की दशा में ज्ञेय का प्रति समय सर्वथा साक्षात् होता है। इसलिए वहां यह भेद नहीं होना चाहिए।

दूसरा दृष्टिकोण आगमिक है, उसका प्रतिपादन स्वभावस्पर्शी है। पहले समय में वस्तुगत-भिन्नताओं को जानना और दूसरे समय में भिन्नतागत अभिन्नता को जानना स्वभाव सिद्ध है। ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है। भेदोन्मुखी ज्ञान सबको जानता है और अभेदोन्मुखी दर्शन सबको देखता है। अभेद में भेद और भेद में अभेद समाया हुआ है, फिर भी भेद प्रधान ज्ञान और अभेद प्रधान दर्शन का समय एक नहीं होता।

ज्ञेय-अज्ञेयवाद

ज्ञेय और अज्ञेय की मीमांसा–द्रव्य (वस्तु या पदार्थ), क्षेत्र, काल और भाव (पर्याय या अवस्था)–इन चार दृष्टियों से होती है।[५] सर्वज्ञ के लिए सबकुछ ज्ञेय है। असर्वज्ञ के लिए कुछ ज्ञेय है और कुछ अज्ञेय।

१. नंदी, मलयगिरीया वृत्ति पत्र १३४ २. सन्मतिप्रकरण, टीका पृष्ठ ६०८

३. सर्वार्थसिद्धि, १/९ ४. ज्ञानबिंदु प्रकरण, भूमिका (उद्धृत) ५. नंदी, सूत्र २२, २५

पदार्थ की दृष्टि से–पदार्थ दो प्रकार के हैं–अमूर्त और मूर्त। मूर्त पदार्थ का इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा विकल परमार्थ प्रत्यक्ष (अवधि तथा मनःपर्यव) से साक्षात्कार होता है, इसलिए वह ज्ञेय है। अमूर्त पदार्थ अज्ञेय है।[१]

मानस ज्ञान श्रुत या शब्द ज्ञान परोक्षतया अमूर्त और मूर्त सभी पदार्थों को जानता है, अतः उसके लिए ज्ञेय सभी पदार्थ हैं।[२]

पर्याय की दृष्टि से–तीन काल की सभी पर्यायें अज्ञेय हैं। त्रैकालिक कुछ पर्यायें ज्ञेय हैं।

संक्षेप में छद्मस्थ के लिए दस वस्तुएं अज्ञेय हैं। सर्वज्ञ के लिए वे ज्ञेय हैं।[३]

ज्ञेय भी अनंत और ज्ञान भी अनंत–यह कैसे हो सकता है? ज्ञान में अनंत ज्ञेय को जानने की क्षमता नहीं है। यदि है तो ज्ञेय सीमित हो जाएगा। दो असीम विषय विषयी भाव में नहीं बंध सकते। अज्ञेयवाद या असर्वज्ञतावाद की ओर से ऐसा प्रश्न उपस्थित किया जाता रहा है।

जैन दर्शन सर्वज्ञतावादी है। उसके अनुसार ज्ञानावरण का विलय (ज्ञान को आवृत करने वाले परमाणुओं का वियोग) होने पर आत्मा के स्वभाव का प्रकाश होता है। अनंत, निरावरण, कृत्स्न, परिपूर्ण, सर्वद्रव्य पर्याय साक्षात्कारी ज्ञान का उदय होता है, वह निरावरण होता है, इसीलिए वह अनंत होता है। ज्ञान का सीमित भाव आवरण से बनता है, उसका आवरण हटता है, तब उसकी सीमितता भी मिट जाती है। अनुमान से जैसे अनंत जाना जाता है, वैसे प्रत्यक्ष से भी अनंत जाना जा सकता है। अनंतता अनुमान और प्रत्यक्ष दोनों का ज्ञेय है। उनकी अनंत विषयक जानकारी में कोई अंतर नहीं है, अंतर सिर्फ जानकारी के रूप में है। अनुमान से अनंत का अस्पष्ट आकलन होता है और प्रत्यक्ष से उसका स्पष्ट दर्शन। अनंत ज्ञान से अनंत वस्तु अनंत ही जानी जाती है, इसीलिए उसकी अनंतता का अंत नहीं होता-असीमता सीमित नहीं होती। सर्वज्ञ जैसे को वैसे ही जानता है। जो जैसे नहीं है, उसे वैसे नहीं जानता। सांत को अनंत और अनंत को सांत जानना अयथार्थ ज्ञान है। यथार्थज्ञान वह है, जो सांत को सांत और अनंत को अनंत जाने। सर्वज्ञ अनंत को अनंत जानता है। इसमें दो असीम तत्त्वों का परस्पर आकलन है।[४] ज्ञान और ज्ञेय एक-दूसरे से आबद्ध नहीं हैं। ज्ञान की असीमता का हेतु उसका निरावरण भाव है। ज्ञेय की असीमता उसकी सहज स्थिति है। ज्ञान और ज्ञेय का आपस में प्रतिबंधकभाव नहीं है। अनंत ज्ञेय अनंतानंत ज्ञान से ही जाना जाता है।

---

१. नन्दी, सूत्र ४-६

२. वही, सूत्र १२७

३. ठाणं, १०/१०९

४. न्यायालोक, पृ. २२१ : अनन्तमलोकाकाशं केवलिना परिच्छिन्नं चेत्तदा उपलब्धावसानत्वाद–नन्तत्वहानिः। अथाऽपरिच्छिन्नं तदा तत्स्वरूपपरिच्छेदविरहेण सर्वज्ञत्वाऽभावः। नैवं दोषः। केवलिनां यज्ज्ञानं तदतिशयवत् क्षायिकमनन्तानन्तपरिमाणं च, तेन तदनन्तमिति साक्षादवसीयते ततो नानन्तत्वस्य हानिर्न वा सर्वज्ञतायाः। न ह्यन्यथास्थितमर्थमन्यथा वेत्ति सर्वज्ञो यथार्थज्ञत्वात् इति न तेन सान्तमनन्तत्वेन परिच्छिन्नं किंतु अनन्तमनन्तत्वेन।

ज्ञेय अनंत हैं। निरावरण ज्ञान अनंतानंत हैं, अनंत ज्ञान अनंत ज्ञेय को जानने की क्षमता वाला है। परम अवधिज्ञान का विषय (ज्ञेय) समूचा लोक है। क्षमता की दृष्टि से ऐसे लोक असंख्य और हों तो भी वह उसे साक्षात् कर सकता है। यह सावरण ज्ञान की स्थिति है। निरावरण ज्ञान की क्षमता इससे अनंतगुण अधिक है।

नियतिवाद

सर्वज्ञता निश्चय दृष्टि या वस्तु स्थिति है। सर्वज्ञ जो जानता है, वह वैसे ही होता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता।

परिवर्तन व्यवहार दृष्टि का विषय है। पुरुषार्थ का महत्त्व निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से है। व्यवहार दृष्टि का पुरुषार्थ आवश्यकतानुसार और निश्चित दिशागामी होता है। व्यवहार दृष्टि स्थूल समझ पर आश्रित होती है। इसलिए उसका पुरुषार्थ भी वैसा ही होता है। ज्ञानमात्र से क्रिया सिद्ध नहीं होती, इसलिए ज्ञान की निश्चितता और अनिश्चितता दोनों स्थितियों में पुरुषार्थ अपेक्षित होता है। ज्ञान और क्रिया का पूर्ण सामंजस्य भी नहीं है। इनकी कारण सामग्री भिन्न होती है। सर्वज्ञ सब कुछ जान लेते हैं, पर सब कुछ कर नहीं पाते।

गौतम ने पूछा—'भगवन्! केवली अभी जिस आकाश खंड में हाथ-पैर रखते हैं, उसी आकाश खंड में फिर हाथ-पैर रखने में समर्थ हैं?'

भगवान—'गौतम! नहीं हैं।'

गौतम—'यह कैसे, भगवन्?'

भगवान—'गौतम! केवली वीर्य, योग और पौद्गलिक द्रव्य युक्त होते हैं, इसलिए उनके उपकरण—हाथ-पैर चल होते हैं। वे चल होते हैं, इसलिए केवली जिन प्रदेशों में हाथ-पैर रखते हैं, उन्ही आकाश प्रदेशों पर दुबारा हाथ-पैर रखने में समर्थ नहीं होते।'[१]

ज्ञान का कार्य जानना है। क्रिया शरीर सापेक्ष है। शारीरिक स्पंदन के कारण पूर्व अवगाह क्षेत्र का फिर अवगाहन नहीं किया जा सकता। इसमें ज्ञान की कोई त्रुटि नहीं है। वह शारीरिक चलभाव की विचित्रता है।

नियति एक तत्त्व है। वह मिथ्यावाद नहीं है। नियतिवाद जो नियति का ही एकांत आग्रह रखता है, वह मिथ्या है। सर्वज्ञता के साथ नियतिवाद की बात जोड़ी जाती है। वह कोरा आग्रह है। असर्वज्ञ के निश्चित ज्ञान के साथ भी वह जुड़ती है। सूर्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण निर्णीत समय पर होते हैं। ज्योतिर्विदों के द्वारा किया हुआ निर्णय उनकी स्वयंभावी क्रिया में विघ्न नहीं डालता। मनुष्यों के भाग्य के बारे में भी उन्हीं के जैसे (असर्वज्ञ) मनुष्यों द्वारा किए गए निर्णय उनके प्रयत्नों में विघ्न नहीं बनते। नियतिवाद के काल्पनिक भय से सर्वज्ञता पर कटाक्ष नहीं किया जा सकता। गोशालक के नियतिवाद का हेतु भगवान महावीर का निश्चित ज्ञान है।

भगवान महावीर साधना काल में विहार कर रहे थे। सर्वज्ञता का लाभ हुआ नहीं था। शरद् ऋतु का पहला महीना चल रहा था। गर्मी और सर्दी की संधिवेला में बरसात चल रही

१. भगवई, ५/११०,१११

थी। कार्तिक की कड़ी धूप मिट रही थी और सर्दी मृगसर की गोद में खेलने को उत्सुक हो रही थी। उस समय भगवान महावीर सिद्धार्थ ग्राम नगर से विहार कर कूर्मग्राम नगर को जा रहे थे। उनका एकमात्र शिष्य मंखली पुत्र गोशालक उनके साथ था। सिद्धार्थ ग्राम से वे चल पड़े। कूर्म ग्राम अभी आया नहीं। बीच में एक घटना चक्र बनता है।

मार्ग के परिपार्श्व में एक खेत लहलहा रहा था। उसमें था एक तिल का पौधा। पत्ते व फूल उसकी श्री को बढ़ा रहे थे। उसकी नयनाभिराम हरियाली बरबस पथिकों की दृष्टि अपनी ओर खींच लेती थी। गोशालक की दृष्टि सहसा उस पर जा पड़ी। वह रुका, झुका, वंदना की और नम्र स्वर में बोला–'भगवन्! देखिए, यह तिल का पौधा जो सामने खड़ा है, क्या पकेगा या नहीं? इसके सात फूलों में रहे हुए सात जीव मरकर कहां पैदा होंगे?'

भगवान बोले–'गोशालक! यह तिल गुच्छ पकेगा, नहीं पकेगा ऐसा नहीं। इसके सात फूलों के सात जीव मरकर इसी की एक फली (तिल संकुलिका या तिल फलिका) में सात तिल बनेंगे।'

गोशालक ने भगवान को सुना, पर जो सुना उसमें श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई, प्रतीति नहीं हुई, वह रुचा नहीं। उसकी अश्रद्धा, अप्रतीति और अरुचि ने उसे परीक्षा की संकरी पंगडंडी में ला पटका। उसकी प्रयोग-बुद्धि में केवल अश्रद्धा ही नहीं, किंतु नैसर्गिक तुच्छता भी थी। वैसी तुच्छता जो सत्यान्वेषी के जीवन में अभिशाप बनकर आती है।

भगवान आगे बढ़ चले। गोशालक धीमी गति से पीछे सरका। मन के तीव्र वेग ने गति में और शिथिलता ला दी। उसकी प्रयोग दृष्टि में सत्य की शुद्ध जिज्ञासा नहीं थी। वह अपने धर्माचार्य के प्रति सद्भावनाशील भी अब नहीं रहा था। वह भगवान को मिथ्यावादी ठहराने पर तुला हुआ था। विचारों का तुमुल संघर्ष सिर पर लिए वह उस तिल स्तंब के पास जा पहुंचा। उसने गहरी दृष्टि से देखा। गोशालक के हाथ उसकी ओर बढ़े। कुछ ही क्षणों में तिल स्तंब जमीन से ऊपर उठ आया। गोशालक ने उसे उखाड़कर ही संतोष नहीं माना। वह उसे हाथ में लिए चला और कुछ आगे जा एकांत में डाल आया। महावीर आगे चले जा रहे थे। वे निश्छल थे। इसीलिए अपने सत्य पर निश्चल थे। उनकी निरपेक्षता उन्हें स्वयं सहारा दे रही थी आगे बढ़ने के लिए। गोशालक भगवान की ओर चल पड़ा।

परिस्थिति का मोड़ कब, कहां, कैसा होता है, इसे जानना सहज नहीं। विश्व की समूची घटनावलियां और कार्य-कारण भाव की शृंखलाएं ऐसी बनती-जुड़ती हैं, जो अनहोने जैसे को बना डालती हैं और जो होने को है, उसे बिखेर डालती हैं। केवल परिस्थिति की दासता जैसे निरा धोखा है, वैसे ही केवल पौरुष का अभिमान भी निरा अज्ञान है। परिस्थिति और पुरुषार्थ अनुकूल क्षेत्र काल में मिलते हैं, व्यक्ति की पूर्व क्रिया से प्रेरित हो चलते हैं, तभी कुछ बनने का बनता है और बिगड़ने का बिगड़ता है। गोशालक के पैर भगवान महावीर की ओर आगे बढ़े, पवन की गति में परिवर्तन आया। खाली आकाश बादलों से छा गया। खाली बादल पानी से भर गए। बादलों की गड़गड़ाहट और बिजली की कौंध ने वातावरण में खिंचाव-सा ला दिया। देखते-देखते धरती गीली हो गई। धीमे-धीमे गिरी बूंदों ने रज रेणु को थाम लिया।

कीचड़ उनसे बढ़ा नहीं। तत्काल उखाड़ फेंका हुआ वह तिल स्तंब अनुकूल सामग्री पा फिर अंकुरित हो उठा, बद्धमूल हो उठा, जहां गिरा था, वहीं प्रतिष्ठित हो गया। सात तिल फूलों के सात जीव उसी तिल स्तंब की एक कली में सात तिल बन गए।

भगवान महावीर जनपद विहार करते-करते फिर कूर्मग्राम आए। वहां से फिर सिद्धार्थग्राम नगर की ओर चले। मार्ग वही था। वे ही थे दोनों गुरु-शिष्य। समय वह नहीं था। ऋतु परिवर्तन हुआ। परिस्थिति भी बदल चुकी थी, किंतु मनुष्य बात का पक्का होता है। आग्रह कब जल्दी से छूटता है। गोशालक की गति ही अधीर नहीं थी, मन भी अधीर था। प्रतीक्षा के क्षण लंबे होते हैं, फिर भी कटते हैं। वह खेत आ गया। गोशालक बोला–'भगवन्! ठहरिए। यह वही खेत है, जहां हमने इससे पूर्व विहार में कुछ क्षण बिताए थे। यह वही खेत है, जहां हमने तिल स्तंब देखा था। यह वही खेत है, जहां भगवान ने मुझे कहा था–'यह तिल स्तंब पकेगा?' किंतु भगवन्! वह भविष्यवाणी असफल हो गई। वह तिल स्तंब नहीं पका, नहीं पका और नहीं पका। वे सात फूलों के सात जीव मरकर नए सिरे से एक फली में सात तिल नहीं बने, नहीं बने और नहीं बने। सच कह रहा हूं मैं, मेरे धर्माचार्य! प्रत्यक्ष से बढ़कर दूसरा कोई प्रमाण नहीं होता।'

भगवान सब सुनते रहे। वे शांत, मौन और अविचलित थे। गोशालक की भवितव्यता ने प्रेरित किया भगवान को बोलने के लिए, कुछ कहने के लिए, रहस्य को सामने ला रखने के लिए। भगवान बोले–'गोशालक! मैं जानता हूं तूने मेरी बात पर विश्वास नहीं किया था। तू आकुल था मेरी भविष्यवाणी को मिथ्या ठहराने के लिए। मुझे मालूम है, गोशालक! उसके लिए तू जो करना चाहता था, वह कर चुका, किंतु परिस्थिति ने तेरा साथ नहीं दिया।' तिल स्तंब के उखाड़ फेंकने से लेकर फिर से पकने तक की सारी कहानी भगवान ने सुना डाली। इसके साथ-साथ परिवर्तवाद का सिद्धांत भी समझा डाला। भगवान बोले–'गोशालक! वनस्पति में परिवृत्त्य-परिहार होता है–वनस्पति के जीव एक शरीर से मरकर, फिर उसी शरीर में जन्म ले लेते हैं।'

गोशालक नियति के हाथों खेल रहा था। उसे भगवान की वाणी में विश्वास नहीं हुआ। वह धीरज का बांध तोड़कर चला। उस जगह गया, जहां तिल स्तंब तोड़ फेका था। उसने देखा, आश्चर्य भरी दृष्टि से देखा–वह तिल स्तंब फिर से खड़ा हो गया है। उसने नजदीक से देखा, उसके गुच्छों में एक फली भी निकल आई है। संशय की आतुरता ने भुला दिया–'वनस्पति चेतन होती है, उसे स्पर्श मात्र से वेदना होती है, उसे छूना जैन मुनि की मर्यादा के अनुकूल नहीं है, उसके हाथ आगे बढ़े, फली को तोड़ा। अंदर तिल निकले। उन्हें गिना, वे सात थे। गोशालक स्तब्ध-सा रह गया। उसके ऐसा अध्यवसाय बना–'बस पीछे का सब बेकार। अब मुझे तत्त्व मिल गया है। सत्य है नियतिवाद और सत्य है परिवर्तवाद। मनुष्य के लाख प्रयत्न करने पर भी जो होने का है, वह नहीं बदलता। यह सारा घटना चक्र नियति के अधीन है। भवितव्यता ही सब कुछ बनाती-बिगाड़ती है। मनुष्य उसी महाशक्ति की एक रेखा है, जो उसी से कर्तृत्त्व पा कुछ करने का दम भरता है। परिवर्तवाद भी वैसा ही व्यापक है जैसा कि नियतिवाद। सब जीव परिवृत्त्य-परिहार करते हैं।'

इस एक घटना ने गोशालक की दिशा बदल दी। अब गोशालक भगवान महावीर का शिष्य नहीं रहा। वह आजीवक संप्रदाय का आचार्य बन गया, नियतिवाद और परिवर्तवाद का प्रचारक बन गया। अब वह 'जिन' कहलाने लगा।

सर्वज्ञता का पारंपर्य-भेद

जैन परंपरा में सर्वज्ञता के बारे में प्रायः एक मत रहा है। कहीं–कहीं मतभेद भी मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में बताया है–'केवली व्यवहार दृष्टि से सब-कुछ जानते-देखते हैं और निश्चय दृष्टि से अपनी आत्मा को ही देखते हैं,'[१] किंतु सर्वज्ञता का यह विचार जैन दृष्टि को पूर्णांशतया मान्य नहीं है। सर्वज्ञता का अर्थ है–लोक-अलोकवर्ती सब द्रव्य और सब पर्यायों का साक्षात्कार।

यह जीव इस कर्म को आभ्युपगमिकी वेदना (इच्छा-स्वीकृत प्रयत्नों) द्वारा भोगेगा और यह जीव इस कर्म को औपक्रमिकी वेदना (कर्मोदय कृत वेदना) द्वारा भोगेगा, प्रदेश वेद्य या विपाक वेद्य के रूप में जैसा कर्म बंधा है, वैसे भोगेगा, जिस देश-काल आदि में जिस प्रकार, जिस निमित्त से, जिन कर्मों के फल भोगने हैं–यह सब अर्हत् को ज्ञात होता है। भगवान ने जो कर्म जैसे-जैसे देखा है, वह वैसे-वैसे ही परिणत होगा।[२] हमारी क्रियाएं विशिष्ट ज्ञान की निश्चितता से मुक्त नहीं हैं, फिर भी ज्ञान आलोक है। सूर्य का आलोक जैसे प्रतिबंधक नहीं होता, वैसे ही ज्ञान भी क्रिया का प्रतिबंधक नहीं होता।

केवली पूर्व दिशा में मित (परिमाण वाली वस्तु) को भी जानता है, और अमित (परिमाण–रहित वस्तु) को भी जानता है। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में वह मित और अमित दोनों को जानता है। केवली सबको जानता-देखता है। सर्वतः जानता-देखता है। सर्वकाल में सर्व भावों (पर्यायों या अवस्थाओं) को जानता-देखता है। वह अनंत ज्ञानी और अनंत दर्शनी होता है। उसका ज्ञान और दर्शन निरावरण होता है, इसलिए वह सब पदार्थों को सदा, सर्वतः सर्व पर्यायों सहित जानता-देखता है।

---

१. नियमसार, १५८

२. वही, १५८

2. मनोविज्ञान

मनोविज्ञान का आधार

जैन मनोविज्ञान आत्मा, कर्म और नो-कर्म की त्रिपुटी मूलक है। मन की व्याख्या और प्रवृत्तियों पर विचार करने से पूर्व इस त्रिपुटी पर संक्षिप्त विचार करना होगा, क्योंकि जैन दृष्टि के अनुसार मन स्वतंत्र पदार्थ या गुण नहीं, वह आत्मा का ही एक विशेष गुण है। मन की प्रवृत्ति भी स्वतंत्र नहीं, वह कर्म और नो-कर्म की स्थिति सापेक्ष है। इसलिए इनका स्वरूप समझे बिना मन का स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

त्रिपुटी का स्वरूप

आत्मा

चैतन्य-लक्षण, चैतन्य-स्वरूप या चैतन्य-गुण पदार्थ का नाम आत्मा है।[१] ऐसी आत्माएं अनंत हैं।[२] उनकी सत्ता स्वतंत्र है।[३] वे किसी दूसरी आत्मा या परमात्मा के अंश नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा की चेतना अनंत होती है–अनंत प्रमेयों को जानने में क्षम होती है। चैतन्य-स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माएं समान होती हैं, किंतु चेतना का विकास सबमें समान नहीं होता।[४] चैतन्य-विकास के तारतम्य का निमित्त कर्म है।

कर्म

आत्मा की प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट और उसके साथ एक रसीभूत पुद्गल 'कर्म' कहलाते हैं[५] कर्म आत्मा के निमित्त से होने वाला पुद्गल-परिणाम है। भोजन, औषध, विष और मद्य आदि पौद्गलिक पदार्थ परिपाक दशा में प्राणियों पर प्रभाव डालते हैं, वैसे ही कर्म भी परिपाक दशा में प्राणियों को प्रभावित करते हैं।[६] कर्म का परमाणु प्रचय भोजन आदि के परमाणु प्रचय से सूक्ष्म होता है, इसलिए इसकी सामर्थ्य अधिक होती है। भोजन आदि के ग्रहण की प्रवृत्ति स्थूल होती है, इसलिए उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। कर्म ग्रहण की प्रवृत्ति सूक्ष्म होती है, इसलिए उसका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। भोजन आदि के परिणामों को जानने के लिए शरीरशास्त्र है, कर्म के परिणामों को समझने के लिए कर्मशास्त्र। भोजन आदि का प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २८/१०,११
२. दसवेआलियं, ४/३
३. वही, ४/३
४. ठाणं, २
५. जैन सिद्धांत दीपिका, ४/१
६. प्रज्ञापना, पद २३

होता है और परोक्ष प्रभाव आत्मा पर। कर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव आत्मा पर होता है और परोक्ष प्रभाव शरीर पर। पथ्य भोजन से शरीर का उपचय होता है, अपथ्य भोजन से अपचय। दोनों प्रकार का भोजन न होने से मृत्यु। ऐसे ही पुण्य कर्म से आत्मा को सुख, पाप कर्म से दुःख और दोनों के विलय से मुक्ति होती है। कर्म के आंशिक विलय से आंशिक मुक्ति–आंशिक विकास होता है और पूर्ण-विलय से पूर्ण मुक्ति–पूर्ण विकास। भोजन आदि का परिपाक जैसे देश, काल सापेक्ष होता है, वैसे ही कर्म का विपाक नो-कर्म सापेक्ष होता है।

नो-कर्म

कर्म विपाक की सहायक सामग्री को नो-कर्म कहा जाता है।[१] आज की भाषा में कर्म को आंतरिक परिस्थिति या आंतरिक वातावरण कहें तो इसे बाहरी वातावरण या बाहरी परिस्थिति कह सकते हैं। कर्म प्राणियों को फल देने में क्षम है, किंतु उसकी क्षमता के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अवस्था, भव-जन्म, पुद्‌गल परिणाम आदि-आदि बाहरी स्थितियों की अपेक्षाएं जुड़ी रहती हैं।[२]

कर्म के आंशिक विलय से होने वाले आंशिक विकास का उपयोग भी बाह्य स्थिति सापेक्ष होता है।

चेतना का पूर्ण विकास होने और शरीर से मुक्ति मिलने के बाद आत्मा को बाह्य स्थितियों की कोई अपेक्षा नहीं होती।

शरीर और चेतना का संबंध

शरीर और चेतना दोनों भिन्नधर्मक हैं, फिर भी इनका अनादि संबंध है। चेतन और अचेतन चैतन्य की दृष्टि से अत्यंत भिन्न हैं, इसलिए वे सर्वथा एक नहीं हो सकते, किंतु सामान्य गुण की दृष्टि से वे अभिन्न भी हैं, इसलिए उनमें संबंध हो सकता है। चेतन शरीर का निर्माता है। शरीर उसका अधिष्ठान है, इसलिए दोनों पर एक-दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। शरीर की रचना चेतन-विकास के आधार पर होती है। जिस जीव के जितने इन्द्रिय और मन विकसित होते हैं, उसके उतने ही इन्द्रिय और मन के ज्ञान-तंतु बनते हैं। वे ज्ञान-तंतु ही इन्द्रिय और मानस-ज्ञान के साधन होते हैं। जब तक ये स्वस्थ रहते हैं, तब तक इन्द्रियां स्वस्थ रहती हैं। इन ज्ञान तंतुओं को शरीर से निकाल दिया जाए तो इन्द्रियों में जानने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[३]

शरीर की बनावट और चेतना का विकास

चेतना विकास के अनुरूप शरीर की रचना होती है और शरीर रचना के अनुरूप चेतना की प्रवृत्ति होती है। शरीर निर्माण काल में आत्मा उसका निमित्त बनती है और ज्ञान काल में शरीर के ज्ञान तंतु चेतना के सहायक बनते हैं।

---

१. प्रज्ञापनापद १७ वृत्ति : बाह्यान्यपि द्रव्याणि कर्मणामुदयक्षयोपशमादिहेतव उपलभ्यन्ते, यथा बाह्यौषधिज्ञानावारणक्षयोपशमस्य, सुरापानं ज्ञानावरणोदयस्य, कथमन्यथा युक्तायुक्तविवेक–विकलतोपजायते।...

२. वही, पद १३

३. तंदुलवैयालीय।

पृथ्वी यावत् वनस्पति का शरीर अस्थि, मांस रहित होता है। विकलेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का शरीर अस्थि, मांस, शोणित-बद्ध होता है।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य का शरीर अस्थि, मांस, शोणित, स्नायु, शिराबद्ध होता है।[१]

आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं होती, इसलिए आत्मा की परिणति का शरीर पर और शरीर की परिणति का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। देह मुक्त होने के बाद आत्मा पर उसका कोई असर नहीं होता, किंतु दैहिक स्थितियों से जकड़ी हुई आत्मा के कार्य-कलाप में शरीर सहायक और बाधक बनता है।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के लिए जैसे दैहिक इन्द्रियों की अपेक्षा होती है, वैसे ही पूर्व प्रत्यक्ष की स्मृति के लिए दैहिक ज्ञानतंतु-केन्द्रों-मस्तिष्क या अन्य अवयवों की अपेक्षा रहती है।

शरीर की वृद्धि के साथ ज्ञान की वृद्धि होती है, तब फिर शरीर से आत्मा भिन्न कैसे? यह सहज शंका उठती है, किंतु यह नियम पूर्ण व्याप्त नहीं है। बहुत सारे व्यक्तियों के देह का पूर्ण विकास होने पर भी बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं होता और कई व्यक्तियों के देह के अपूर्ण विकास में भी बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है। देह की अपूर्णता में बौद्धिक विकास पूर्ण नहीं होता, इसका कारण यह है कि वस्तु-विषय का ग्रहण शरीर की सहायता से होता है। जब तक देह पूर्ण विकसित नहीं होता, तब तक वह वस्तु-विषय का ग्रहण करने में पूर्ण समर्थ नहीं बनता। मस्तिष्क और इन्द्रियों की न्यूनाधिकता होने पर भी ज्ञान की मात्रा में न्यूनाधिकता होती है, उसका भी यही कारण है–सहकारी अवयवों के बिना ज्ञान का उपयोग नहीं हो सकता। देह, मस्तिष्क और इन्द्रियों के साथ ज्ञान का निमित्त कारण और कार्यभाव संबंध है। इसका फलित यह नहीं होता कि आत्मा और वे एक हैं।

मन क्या है?

समतात्मक भौतिकवाद के अनुसार मानसिक क्रियाएं स्वभाव से ही भौतिक हैं।

कारणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्‌गल का कार्य है।

गुणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्‌गल का गुण है।

जैन दृष्टि के अनुसार मन के दो प्रकार होते हैं–एक चेतन और दूसरा पौद्‌गलिक।

पौद्‌गलिक मन ज्ञानात्मक मन का सहयोगी होता है। उसके बिना ज्ञानात्मक मन अपना कार्य नहीं कर सकता। उसमें अकेले में ज्ञान शक्ति नहीं होती। दोनों के योग से मानसिक क्रियाएं होती हैं।

ज्ञानात्मक मन चेतन है। वह पौद्‌गलिक परमाणुओं से नहीं बन सकता। वह पौद्‌गलिक वस्तु का रस-गुण नहीं है। पौद्‌गलिक वस्तु का रस भी पौद्‌गलिक ही होगा। पित्त का निर्माण यकृत में होता है, यह पौद्‌गलिक है। चेतना न मस्तिष्क का रस है और न मस्तिष्क की

१. ठाणं, २/१५९, १६०

आनुषंगिक उपज भी। यह कार्यक्षम और शरीर का नियामक है। आनुषंगिक उपज में यह सामर्थ्य नहीं होती।

चेतना शरीर-घटक धातुओं का गुण होता तो शरीर से वह कभी लुप्त नहीं होती। चेतना आत्मा का गुण है। आत्म शून्य शरीर में चेतना नहीं होती और शरीर शून्य आत्मा की चेतना हमें प्रत्यक्ष नहीं होती। हमें शरीरयुक्त आत्मा की चेतना का ही बोध होता है।

वस्तु का स्व गुण कभी भी वस्तु से पृथक् नहीं होता। दो वस्तुओं के संयोग से तीसरी नई वस्तु बनती है, तब उसका गुण भी दोनों के सम्मिश्रण से बनता है, किंतु बाहर से नहीं आता। उसका विघटन होने पर पुनः दोनों वस्तुओं के अपने-अपने गुण स्वतंत्र हो जाते हैं। गंधक के तेजाब में हाइड्रोजन, गंधक और ऑक्सीजन का सम्मिश्रण रहता है। इसके भी अपने विशेष गुण होते हैं। इसको बनाने वाली मूल धातुएं पृथक्-पृथक् कर दी जाएं, तब वे अपने मूल गुणों के साथ ही पाई जाती हैं।

आत्मा का गुण चैतन्य और जड़ का गुण अचैतन्य है। ये भी इनके साथ सदा लगे रहते हैं। इन दोनों के संयोग से नए गुण पैदा होते हैं, जिन्हें जैन परिभाषा में 'वैभाविक गुण' कहा जाता है। ये गुण मुख्य रूप में चार हैं–आहार, श्वास-उच्छ्वास, भाषा और पौद्गलिक मन। ये गुण न तो आत्मा के हैं और न शरीर के। ये दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। दोनों के वियोग में ये भी मिट जाते हैं।

शरीर और मन का पारस्परिक प्रभाव

शरीर पर मन का और मन पर शरीर का असर कैसे होता है? अब इस पर हमें विचार करना है। आत्मा अरूपी है, उसको हम देख नहीं सकते। शरीर में आत्मा की क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं कि आत्मा विद्युत है और शरीर बल्ब है। ज्ञान शक्ति आत्मा का गुण है और उसके साधन शरीर के अवयव हैं। बोलने का प्रयत्न आत्मा का है, उसका साधन शरीर है। इसी प्रकार पुद्गल ग्रहण एवं हलन-चलन आत्मा करती है, उसका साधन शरीर है। आत्मा के बिना चिंतन, जल्प और बुद्धिपूर्वक गति आगति नहीं होती तथा शरीर के बिना उनका प्रकाश (अभिव्यक्ति) नहीं होता। इसीलिए कहा गया है कि **द्रव्यनिमित्तं हि संसारिणां वीर्यमुपजायते–**अर्थात् संसारी आत्माओं की शक्ति का प्रयोग पुद्गलों की सहायता से होता है। हमारा मानस चिंतन में प्रवृत्त होता है और उसे पौद्गलिक मन के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण करना ही पड़ता है, अन्यथा उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। हमारे चिंतन में जिस प्रकार के इष्ट या अनिष्ट भाव आते हैं, उसी प्रकार के इष्ट या अनिष्ट पुद्गलों को द्रव्य मन (पौद्गलिक मन) ग्रहण करता चला जाता है। मन रूप में परिणत हुए अनिष्ट पुद्गलों से शरीर को हानि होती है और मन रूप में परिणत इष्ट पुद्गलों से शरीर को लाभ पहुंचता है।[१] इस प्रकार शरीर पर मन का असर होता है। यद्यपि शरीर पर असर उसके सजातीय पुद्गलों के द्वारा ही होता है, तथापि उन पुद्गलों का ग्रहण मानसिक प्रवृत्ति पर निर्भर

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २२० वृत्ति : मनस्त्वपरिणतानिष्टपुद्गलनिचयरूपं द्रव्यमनः अनिष्टचिंता प्रवर्तनेन। जीवस्य देहदौर्बल्याद्यापत्त्या ह्यन्निरुद्धवायुवद् उपघातं जनयति, तदेव च शुभपुद्गलपिंडरूपं तस्यानुकूलचिंताजनकत्वेन हर्षाद्यभिनिर्वृत्या भेषजवदनुग्रहं विधत्ते इति...।

है। इसलिए इस प्रक्रिया को हम शरीर पर मानसिक असर कह सकते हैं। देखने की शक्ति ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का गुण है, फिर भी आंख के बिना मनुष्य देख नहीं सकता। आंख में रोग होता है, दर्शन क्रिया नष्ट हो जाती है। रोग की चिकित्सा की और दीखने लग जाता है। यही बात मस्तिष्क और मन की क्रिया के बारे में है। इस प्रकार आत्मा पर शरीर का असर होता है।

इन्द्रिय और मन का ज्ञानक्रम

मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान के साधन हैं–इन्द्रिय और मन, फिर भी दोनों एक नहीं हैं। मति द्वारा इन्द्रिय और मन की सहायता मात्र से अर्थ का ज्ञान हो जाता है। श्रुत को शब्द या संकेत की ओर अपेक्षा होती है। जहां हम घट को देखने मात्र से जान लेते हैं, वह मति है और जहां घट शब्द के द्वारा घट को जानते हैं, वह श्रुत है[१] मति-ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ के बीच इन्द्रिय और मन का व्यवधान होता है, इसलिए वह परोक्ष है, किंतु (मति ज्ञान) में इन्द्रिय, मन और ज्ञेय वस्तु के बीच कोई व्यवधान नहीं होता, इसलिए उसे लौकिक प्रत्यक्ष भी कहा जाता है।[२] श्रुत ज्ञान में इन्द्रिय, मन और ज्ञेय वस्तु के बीच शब्द का व्यवधान होता है, इसलिए वह सर्वतः परोक्ष ही होता है।

लौकिक प्रत्यक्ष आत्म प्रत्यक्ष की भांति समर्थ प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए इसमें क्रमिक ज्ञान होता है। वस्तु के सामान्य दर्शन से लेकर उसकी धारणा तक का क्रम इस प्रकार है–

ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु का उचित सन्निधान–व्यंजन।

वस्तु के सर्व सामान्य रूप का बोध–दर्शन।

वस्तु के व्यक्तिनिष्ठ सामान्य रूप का बोध–अवग्रह।

वस्तु स्वरूप के बारे में अनिर्णायक विकल्प–संशय।

वस्तु स्वरूप का परामर्श–वस्तु में प्राप्त और अप्राप्त धर्मों का पर्यालोचन-ईहा-(निर्णय की चेष्टा)

वस्तु स्वरूप का निर्णय–अवाय (निर्णय)

वस्तु स्वरूप की स्थिर–अवगति या स्थिरीकरण-धारणा (निर्णय की धारा)

यह क्रम अमनस्क दशा में अपूर्ण हो सकता है, किंतु इसका विपर्यय नहीं हो सकता। अवग्रह हो जाता है, ध्यान बदलने पर 'ईहा' नहीं भी होती, किंतु ईहा से पहले अवग्रह का यानी वस्तु के विशेष स्वरूप के परामर्श से पहले उसके सामान्य रूप का ग्रहण होना अनिवार्य है। यह नियम धारणा तक समान है।

इस क्रम में व्यंजन अचेतन होता है, दर्शन विशेष स्वरूप का अनिर्णायक और संशय अयथार्थ। निर्णायक ज्ञान की भूमिकाएं चार हैं–अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

वस्तुवृत्या निर्णय की भूमि 'अवाय' है। अवग्रह और ईहा निर्णयोन्मुख या स्वरूपांश के निर्णायक होते हैं। धारणा निर्णय का स्थिर रूप है। इसलिए वह भी निर्णायक होती है। धारणा के तीन प्रकार हैं–अविच्युति, वासना और स्मृति।

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १०० वृत्ति...। २. नंदी सूत्र ४

अविच्युति–निर्णीत विषय में ज्ञान की प्रवृत्ति निरंतर चलती रहे, उपयोग की धारा न टूटे, उस धारणा का नाम 'अविच्युति' है। इस अविच्युति की अपेक्षा ही धारणा लौकिक प्रत्यक्ष है। इसके उत्तरवर्ती दो प्रकार प्रत्यक्ष नहीं हैं।

वासना–निर्णय में वर्तमान ज्ञान की प्रवृत्ति-उपयोग का सातत्य छूटने पर प्रस्तुत ज्ञान का व्यक्त रूप चला जाता है। उसका अव्यक्त रूप संस्कार रह जाता है और यही पूर्व ज्ञान की स्मृति का कारण बनता है। इस संस्कार ज्ञान का नाम है 'वासना'।

स्मृति–संस्कार उद्‌बुद्ध होने पर अनुभूत अर्थ का पुनर्बोध होता है। वह 'स्मृति' है।

वासना व्यक्त ज्ञान नहीं, इसलिए वह प्रमाण की कोटि में नहीं आती। स्मृति परोक्ष प्रमाण है। धारणा तक मति लौकिक प्रत्यक्ष होती है। स्मृति से लेकर अनुमान तक उसका रूप परोक्ष बन जाता है।

चक्षु और मन का ज्ञान क्रम पटु होता है। इसलिए उनका व्यजंन नहीं होता, ज्ञेय वस्तु से सन्निकर्ष नहीं होता। जिन इन्द्रियों का व्यंजन होता है, उन्हें व्यंजन का अस्पष्ट बोध होता है। अपने और ज्ञेय वस्तु के संश्लेष का अव्यक्त ज्ञान होता है, इसे 'व्यंजन–अवग्रह' कहा जाता है। यह अपटु ज्ञान क्रम है। इससे ज्ञेय अर्थ का बोध नहीं होता। वह इसके उत्तरवर्ती अवग्रह से होता है, इसलिए उसका नाम 'अर्थ-अवग्रह' है।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा–ये पांच इन्द्रिय और मन–इन छहों के होते हैं।

इन्द्रिय और मन की सापेक्ष-निरपेक्ष वृत्ति

इन्द्रिय प्रतिनियत अर्थग्राही है।[१] पांच इन्द्रियों–स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र के क्रमशः पांच विषय हैं–स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द।[२] मन सर्वार्थग्राही है। वह इन पांचों अर्थों को जानता है। इसके सिवाय मन का मुख्य विषय श्रुत है।[३] 'पुस्तक' शब्द सुनते ही या पढ़ते ही मन को 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान हो जाता है। मन को शब्द संस्पृष्ट वस्तु की उपलब्धि होती है। इन्द्रिय को पुस्तक देखने पर 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान होता है और 'पुस्तक' शब्द सुनने पर उस शब्द मात्र का ज्ञान होता है, किंतु 'पुस्तक' शब्द का यह पुस्तक वाच्यार्थ है–यह ज्ञान इन्द्रिय को नहीं होता। इन्द्रिय में मात्र विषय की उपलब्धि–अवग्रहण की शक्ति होती है, ईहा–गुण-दोष-विचारणा, परीक्षा या तर्क की शक्ति नहीं होती।[४] मन में ईहापोह शक्ति होती है। इसलिए मन का विकास होने पर प्राणी संज्ञी कहलाता है।[५] इन्द्रिय मति और श्रुत–दोनों में वार्तमानिक बोध करती है, पार्श्ववर्ती विषय को जानती है। मन मति ज्ञान में भी ईहा के अन्वय-व्यतिरेकी धर्मों का परामर्श करते समय त्रैकालिक बन जाता है और श्रुत में त्रैकालिक होता ही है।[६]

---

१. जैन सिद्धांत दीपिका, २/२७

२. वही, २/२८,३२

३. वही, २/३३ : तत्त्वार्थसूत्र, २/२१

४. नंदी, सूत्र ६२ : जस्स णं नत्थि ईहा अपोहो मग्गणा गवेसणा चिंता वीमंसा।

५. वही, : जस्स णं अत्थि ईहा अपोहो मग्गणा गवेसणा चिंता वीमंसा से णं सण्णीत्ति लब्भइ।

६. बृहत्कल्पभाष्य, १/१

मन इन्द्रिय है या नहीं?

नैयायिक मन को इन्द्रिय से पृथक् मानते हैं।[१] सांख्य मन का इन्द्रिय में अंतर्भाव करते हैं।[२] जैन मन को अनिन्द्रिय मानते हैं। इसका अर्थ है मन इन्द्रिय की तरह प्रतिनियत अर्थ को जानने वाला नहीं है, इसलिए वह इन्द्रिय नहीं और वह इन्द्रिय के विषयों को उन्हीं के माध्यम से जानता है, इसलिए वह कथंचित् इन्द्रिय नहीं, यह भी नहीं। वह शक्ति की अपेक्षा इन्द्रिय नहीं भी है और इन्द्रिय सापेक्षता की दृष्टि से इन्द्रिय है भी।

मानसिक अवग्रह

इन्द्रियां जैसे मति ज्ञान की निमित्त हैं, वैसे श्रुत ज्ञान की भी हैं। मन की भी यही बात है। वह भी दोनों का निमित्त है, किंतु श्रुत–शब्द द्वारा ग्राह्य वस्तु केवल मन का ही विषय है, इन्द्रियों का नहीं।[३] शब्द संस्पर्श के बिना प्रत्यक्ष वस्तु का ग्रहण इन्द्रिय और मन दोनों के द्वारा होता है। स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्दात्मक वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है, उनकी विशेष अवस्थाओं और बुद्धिजन्य काल्पनिक वृत्तों का तथा पदार्थ के उपयोग का ज्ञान मन के द्वारा होता है। इस प्राथमिक ग्रहण-अवग्रह में सामान्य रूप से वस्तु पर्यायों का ज्ञान होता है। इसमें आगे-पीछे का अनुसंधान, शब्द और अर्थ का संबंध, विशेष विकल्प आदि नहीं होते। इन्द्रियां इन विशेष पर्यायों को नहीं जान सकतीं। इसलिए मानसिक अवग्रह में वे संयुक्त नहीं होती, जैसे ऐन्द्रियिक अवग्रह में मन संयुक्त होता है। अवग्रह के उत्तरवर्ती ज्ञान क्रम पर तो मन का एकाधिकार है ही।

मन की व्यापकता

(क) विषय की दृष्टि से–इन्द्रियों के विषय केवल प्रत्यक्ष पदार्थ बनते हैं। मन का विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के पदार्थ बनते हैं। शब्द, परोपदेश या आगम ग्रंथ के माध्यम से अस्पृष्ट, अरसित, अघ्रात, अदृष्ट, अश्रुत, अननुभूत, मूर्त और अमूर्त सब पदार्थ जाने जाते हैं। यह श्रुत ज्ञान है। श्रुत ज्ञान केवल मानसिक होता है। कहना यह चाहिए कि मन का विषय सब पदार्थ हैं, किंतु यह नहीं कहा जाता, उसका भी एक अर्थ है। सब पदार्थ मन के ज्ञेय बनते हैं, किंतु प्रत्यक्ष रूप से नहीं, श्रुत के माध्यम से ज्ञेय बनते हैं, इसलिए मन का विषय श्रुत है।

श्रुतमनोविज्ञान इन्द्रिय-निमित्तक भी होता है और मनोनिमित्तक भी। इन्द्रिय के द्वारा शब्द का ग्रहण होता है, इसलिए इन्द्रियां उसका निमित्त बनती हैं। मन के द्वारा सामान्य पर्यालोचन होता है, इसलिए वह भी उसका निमित्त बनता है। श्रुत मनोविज्ञान विशेष पर्यालोचनात्मक होता है–यह उन दोनों का कार्य है।

(ख) काल की दृष्टि से–इन्द्रियां सिर्फ वर्तमान अर्थ को जानती हैं। मन त्रैकालिक ज्ञान है। स्वरूप की दृष्टि से मन वर्तमान में ही होता है। मन मन्यमान होता है–मनन के समय ही मन होता है।[४] मनन से पहले और पीछे मन नहीं होता। वस्तु ज्ञान की दृष्टि से वह त्रैकालिक होता

---

१. न्याय सूत्र, १/१२

२. सांख्यकारिका, २७

३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, २/११, ३२८

४. भगवई, १३/१२६ : मणिज्जमाणे मणे।

है। उसका मनन वार्तमानिक होता है, स्मरण अतीतकालिक, संज्ञा उभयकालिक, कल्पना भविष्यकालिक, चिंता, अभिनिबोध और शब्द ज्ञान त्रैकालिक।

विकास का तरतमभाव

प्राणिमात्र में चेतना समान होती है, उसका विकास समान नहीं होता। ज्ञानावरण मंद होता है, चेतना अधिक विकसित होती है। वह तीव्र होता है, चेतना का विकास स्वल्प होता है। अनावरण दशा में चेतना पूर्ण विकसित रहती है। ज्ञानावरण के उदय से चेतना का विकास ढक जाता है, किंतु वह पूर्णतया आवृत कभी नहीं होती। उसका अल्पांश सदा अनावृत रहता है। यदि वह पूरी आवृत हो जाए तो फिर जीव और अजीव के विभाग का कोई आधार ही नहीं रहता।[१] बादल कितने ही गहरे क्यों न हो, सूर्य की प्रभा रहती है। उसका अल्पांश दिन और रात के विभाग का निमित्त बनता है। चेतना का न्यूनतम विकास एकेन्द्रिय जीवों में होता है।[२] उनमें सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान होता है। स्त्यानर्द्धि निद्रा–गाढ़तम नींद जैसी दशा उनमें हमेशा रहती है, इससे उनका ज्ञान अव्यक्त होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छिम और पंचेन्द्रिय गर्भज में क्रमशः ज्ञान की मात्रा बढ़ती है।

द्वीन्द्रिय........स्पर्शन और रसन।

त्रीन्द्रिय.........स्पर्शन, रसन और घ्राण।

चतुरिन्द्रिय.........स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु।

पंचेन्द्रिय सम्मूर्छिम....स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

पंचेन्द्रिय गर्भज........स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, अतीन्द्रिय ज्ञान–मूर्त पदार्थ का साक्षात् ज्ञान।

पंचेन्द्रिय गर्भज मनुष्य..........पूर्व के अतिरिक्त परचित्तज्ञान और केवलज्ञान–चेतना की अनावृत-दशा।

ज्ञानावरण का पूर्ण विलय (क्षय) होने पर चेतना निरुपाधिक हो जाती है। उसका आंशिक विलय (क्षयोपशम) होता है, तब उसमें अनंत गुण तरतमभाव रहता है। उसके वर्गीकृत भेद चार हैं–मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यव। इनमें भी अनंतगुण तारतम्य होता है। एक व्यक्ति के मति ज्ञान से दूसरे व्यक्ति का मति ज्ञान अनंतगुण हीन या अधिक हो जाता है।[३] यही स्थिति शेष तीनों की है।

निरुपाधिक चेतना की प्रवृत्ति–उपयोग सब विषयों पर निरंतर होता रहता है। सोपाधिक चेतना (आंशिक विलय से विकसित चेतना) की प्रवृत्ति-उपयोग निरंतर नहीं रहता। जिस विषय पर जब ध्यान होता है–चेतना की विशेष प्रवृत्ति होती है, तभी उसका ज्ञान होता है।

---

१. नंदी सूत्र ७१ : सव्वजीवाणंपि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडियो, जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पावेज्जा।

२. दसवेआलियं, चूर्णि : सव्वजहण्णं चित्तं एगिंदियाणं।

३. प्रज्ञापना, पद ५

प्रवृत्ति छूटते ही उस विषय का ज्ञान छूट जाता है। निरुपाधिक चेतना की प्रवृत्ति सामग्री-निरपेक्ष होती है, इसलिए वह स्वतः प्रवृत्त होती है, उसकी विशेष प्रवृत्ति करनी नहीं पड़ती। सोपाधिक चेतना सामग्री-सापेक्ष होती है, इसलिए वह सब विषयों को निरंतर नहीं जानती, जिस पर विशेष प्रवृत्ति करती है, उसी को जानती है।[१]

सोपाधिक चेतना के दो रूप–अवधि–'मूर्त-पदार्थ का ज्ञान और मनःपर्यव–परचित्तज्ञान विशद और बाह्य सामग्री निरपेक्ष होते हैं, इसलिए ये अव्यक्त नहीं होते, क्रमिक नहीं होते और संशय, विपर्यय दोष से मुक्त होते हैं।

ऐन्द्रियिक और मानसज्ञान (मति और श्रुत) बाह्य सामग्री–सापेक्ष होते हैं, इसलिए ये अव्यक्त, क्रमिक और संशय विपर्यय दोष से युक्त भी होते हैं। इसका मुख्य कारण ज्ञानावरण का तीव्र सद्भाव ही है। ज्ञानावरण कर्म आत्मा पर छाया रहता है। चेतना का सीमित विकास–जानने की आंशिक योग्यता (क्षायोपशमिक-भाव) होने पर भी जब तक आत्मा का व्यापार नहीं होता, तब तक ज्ञानावरण उस पर पर्दा डाले रहता है। पुरुषार्थ चलता है, पर्दा दूर हो जाता है। पदार्थों की जानकारी मिलती है। पुरुषार्थ निवृत्त होता है, ज्ञानावरण फिर छा जाता है। उदाहरण के लिए समझिए–पानी पर शैवाल बिछा हुआ है। कोई उसे दूर हटाता है, पानी प्रकट हो जाता है, उसे दूर करने का प्रयत्न बंद होता है, तब वह फिर पानी पर छा जाता है।[२] ज्ञानावरण का भी यह क्रम है।

ज्ञान विकास की तरतमता के आधार पर कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं–

१. आत्मा चैतन्यमय है, इसलिए उसमें विस्मृति नहीं होनी चाहिए, फिर विस्मृति क्यों?

२. ज्ञान का स्वभाव है ज्ञेय को जानना, फिर अव्यक्त बोध क्यों?

३. ज्ञान का स्वभाव है पदार्थ का निश्चय करना, फिर संशय, भ्रम आदि क्यों?

४. ज्ञान असीम है, इसलिए उससे अपरिमित पदार्थों का ग्रहण होना चाहिए, फिर वह सीमित क्यों?

इनका सामुदायिक समाधान यह है–इन विचित्र स्थितियों के कारण कर्म पुद्गल हैं। विचित्रताएं कर्म पुद्गल-प्रभावित चेतना में होती हैं।

क्रमिक समाधान इस प्रकार है–

१. आवृत चैतन्य अस्थिर स्वभाव वाला होता है, पदार्थों को क्रमपूर्वक जानता है, इसलिए वह अव्यवस्थित और उद्भ्रांत होता है। और इसलिए एक पदार्थ में चिरकाल तक उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। अंतर्मुहूर्त्त से अधिक एक विषय में प्रवृत्ति नहीं होती।[३] प्रस्तुत विषय में ज्ञान की प्रवृत्ति रुकती है, दूसरे में प्रारंभ होती है, तब पूर्व ज्ञात अर्थ की विस्मृति हो जाती है, वह संस्कार रूप बन जाता है।

१. स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ १४८

२. तत्त्वार्थ सूत्र २/८, बृहद्वृत्ति, पृष्ठ १५१

३. प्रज्ञापना, पद १८

२. सूर्य का स्वभाव है पदार्थों को प्रकाशमान करना, किंतु मेघाच्छन्न सूर्य उन्हें स्पष्टतया प्रकाशित नहीं करता। यही स्थिति चैतन्य की है। कर्म पुद्‌गलों से आवृत चैतन्य पदार्थों को व्यक्त रूप में नहीं जान पाता। अव्यक्तता का मात्राभेद आवरण के तरतमभाव पर निर्भर है।

३. चेतना आवृत होती है और ज्ञान की सहायक-सामग्री दोषपूर्ण होती है, तब संशय, भ्रम आदि होते हैं।[१]

४. ससीम ज्ञान का कारण चैतन्य का आवरण ही है।

इन्द्रिय और मन का विभाग-क्रम तथा प्राप्ति-क्रम

ज्ञान का आवरण हटता है, तब लब्धि होती है,[२] वीर्य का अंतराय दूर होता है, तब उपयोग होता है।[३] ये दोनों ज्ञानेन्द्रियां हैं–ज्ञान के विभाग हैं–आत्मिक चेतना के अंश हैं।

इन्द्रिय के दो विभाग और हैं, निर्वृत्ति-आकार-रचना और उपकरण-विषय-ग्रहण-शक्ति। ये दोनों ज्ञान की सहायक इन्द्रियां-पौद्‌गलिक इन्द्रिय के विभाग हैं–शरीर के अंश हैं। इन चारों के समुदाय का नाम इन्द्रिय है। चारों में से एक अंश भी विकृत हो तो ज्ञान नहीं होता। ज्ञान का अर्थ–ग्राहक अंश उपयोग है।[४] उपयोग (ज्ञान की प्रवृत्ति) उतना ही हो सकता है, जितनी लब्धि (चेतना की योग्यता) होती है। लब्धि होने पर भी उपकरण न हो तो विषय का ग्रहण नहीं हो सकता। उपकरण निर्वृत्ति के बिना काम नहीं कर सकता। इसलिए ज्ञान के समय इनका विभाग क्रम इस प्रकार बनता है–निर्वृत्ति, उपकरण, लब्धि और उपयोग।

इनका प्राप्ति क्रम इससे भिन्न है। उसका रूप इस प्रकार बनता है–लब्धि, निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग।[५] अमुक प्राणी में इतनी इन्द्रियां बनती हैं, न्यूनाधिक नहीं

१. (क) भगवई जोड़, ३/६/६८ गाथा ५१-५४ :

दिशामूढ अवलोय रे, पूरब ने जाणै पछिम।
उदय भाव ए जोय रे, पिण क्षयोपशम भाव नहिं॥
है चक्षु में रोग रे, बे चंदा देखे प्रमुख।
ते छै रोग प्रयोग रे, तिम विपरीतज जाणवे॥
चक्षु रोग मिट जाय रे, वहां पछै देखैं तिको।
ए बिहुं जुदा कहाय रे, रोग अने बलि नेत्र ए॥
उदयभाव छै रोग रे, चक्षु क्षयोपशम भाव छै।
ए बहु जुदा प्रयोग रे, तिण विध ए पण जाणवो॥

(ख) न्यायालोक, पत्र १७७ : चेतनास्वरूपत्वेऽनवरतं जानानेनैव भवितव्यं जीवेन, कुतो वा पूर्वोपलब्धार्थविषयविस्मरणम्? ज्ञानस्योपलब्धिरूपत्वेन व्यक्ततेत्यात्मनापि व्यक्त बोधेन भवितव्यं, नाव्यक्तबोधेन। निश्चयकत्वेन ज्ञानस्य न कदाचित् संशयोद्‌भवः स्यात्। ज्ञानस्य च निरवधित्वेनाशेषविषय–ग्रहणमापद्येत इति चेत्? नैवं, कर्मवशवर्तित्वेनात्मनस्तज्ज्ञानस्य च विचित्रत्वात्। तथाहि कर्मनिगडनियंत्रितोयमात्मा... ...चलस्वभावो नानार्थेषु परिणममानः कृकलासवद् अव्यवस्थितोद्‌भ्रान्तमनाश्च कथमेकस्मिन्नर्थे चिरमुपयोगवान्। निसर्गत एवोत्कर्षादुपयोगकालस्यान्तमुहूर्त्तमानत्वाच्च। समुन्नतघनाघनपटलाभिभूतमूर्तेर्भास्वतः प्रकाश-स्वरूपत्वेऽपि अस्पष्टप्रकाशोद्‌भववच्च...।

२. जैनतर्कभाषा, २/१८, पृ. १६७

३. लघीयस्त्रयी, ५

४. जैन सिद्धांत दीपिका, २/३७

५. वही, २/३८

बनतीं, इसका नियामक इनका प्राप्ति क्रम है। इसमें लब्धि की मुख्यता है। जिस प्राणी में जितनी इन्द्रियों की लब्धि होती है, उसके उतनी ही इन्द्रियों के आकार, उपकरण और उपयोग होते हैं।

हम जब एक वस्तु का ज्ञान करते हैं, तब दूसरी का नहीं करते—हमारे ज्ञान में यह विप्लव नहीं होता। इसका नियामक विभाग क्रम है। इसमें उपयोग की मुख्यता है। उपयोग निर्वृत्ति आदि से निरपेक्ष नहीं होता, किंतु इन तीनों के होने पर भी उपयोग के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। उपयोग ज्ञानावरण के विलय की योग्यता और वीर्य विकास—दोनों के संयोग से बनता है। इसलिए एक वस्तु को जानते समय दूसरी वस्तुओं को जानने की शक्ति होने पर भी उनका ज्ञान इसलिए नहीं होता कि वीर्य शक्ति हमारी ज्ञान शक्ति को ज्ञायमान वस्तु की ओर ही प्रवृत्त करती है।[१]

इन्द्रिय प्राप्ति की दृष्टि से प्राणी पांच भागों में विभक्त होते हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, किंतु इन्द्रिय ज्ञान उपयोग की दृष्टि से सब प्राणी एकेन्द्रिय ही होते हैं। एक साथ एक ही इन्द्रिय का व्यापार हो सकता है। एक इन्द्रिय का व्यापार भी स्व-विषय के किसी विशेष अंश पर ही हो सकता है, सर्वांशतः नहीं।[२]

ज्ञान और संवेदन

चेतना की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—संविज्ञान और अनुभव।

वस्तु की उपलब्धि (ज्ञान) को 'संविज्ञान' और सुख-दुःख के संवेदन को 'अनुभव' कहा जाता है।[३]

१. कई जीव ज्ञानयुक्त होते हैं, वेदनायुक्त नहीं, जैसे-मुक्त आत्माएं।

२. कई जीव ज्ञान (स्पष्ट ज्ञान)-युक्त नहीं होते, वेदनायुक्त होते हैं, जैसे-एकेन्द्रिय जीव।

३. त्रस जीव दोनों से युक्त होते हैं।

४. अजीव में दोनों नहीं होते।

एकेन्द्रिय से अमनस्क पंचेन्द्रिय तक के जीव शारीरिक वेदन का अनुभव करते हैं। उनमें मन नहीं होता, इसलिए मानसिक वेदना उनके नहीं होती।[४] ज्ञान के मति, श्रुत आदि पांच प्रकार

---

१. स्याद्वादमंजरी १७

२. तत्त्वार्थसूत्र, २। १९ भाष्यानुसारिणी टीका, १६९ः यदा शब्दोपयोगवृत्तिरात्मा भवति तदा न शेषकरणव्यापारः स्वल्पोप्यन्यत्र कान्तद्रिष्टाभ्यस्तविषयकलापात् अर्थान्तरोपयोगे हि प्राच्य—मुपयोगबलमाव्रियते कर्मणा, शंखशब्दोप्ययुक्तस्य शृङ्गशब्दविज्ञानमस्तमिततन्निर्भासं भवति, अतः क्रमेण उपयोग एकस्मिन्नपि इन्द्रियविषये, किमुत बहुविधविशेषभाजीन्द्रियान्तरे, तस्मादेकेन्द्रियेण सर्वात्मनोपयुक्तः सर्वः प्राण्युपयोगं प्रति एकेन्द्रियो भवति।

३. तत्त्वार्थसूत्र, १३८ : उपयोगस्तु द्विविधा चेतना...संविज्ञानलक्षणा अनुभवलक्षणा च। तत्र घटाद्युपलब्धिः संविज्ञान—लक्षणा सुखदुःखादि संवेदनानुभवलक्षणा, एतदुभयमुपयोगग्रहणाद् गृह्यते।

४. पन्नवणा, पद ३५/७ : एगिंदियविगलिंदिया सरीरवेयणं वेयंति, नो माणसं वेयणं वेयंति।

हैं, जो पहले बताए जा चुके हैं। ज्ञान ज्ञानावरण के विलय से होता है। ज्ञान की दृष्टि से जीव विज्ञ कहलाता है। संज्ञा दस या सोलह हैं। वे कर्मों के सन्निपात–सम्मिश्रण से बनती हैं। इनमें कई संज्ञाएं ज्ञानात्मक भी हैं, फिर भी वे प्रवृत्ति-संवलित हैं, इसलिए शुद्ध ज्ञान रूप नहीं हैं।

संज्ञाएं

संज्ञाएं दस हैं[१]–१. आहारसंज्ञा २. भयसंज्ञा ३. मैथुनसंज्ञा ४. परिग्रहसंज्ञा ५. क्रोधसंज्ञा ६. मानसंज्ञा ७. मायासंज्ञा ८. लोभसंज्ञा ९. लोकसंज्ञा १०. ओघसंज्ञा।

संज्ञा की दृष्टि से जीव 'वेद' कहलाता है।[२]

इनके अतिरिक्त तीन संज्ञाएं और हैं[३]–१. हेतुवादोपदेशिकी २. दीर्घकालिकी ३. दृष्टिवादोपदेशिकी सम्यक्‌दृष्टि।

ये तीनों ज्ञानात्मक हैं। संज्ञा का स्वरूप समझने से पहले कर्म का कार्य समझना उपयोगी होगा। संज्ञाएं आत्मा और मन की प्रवृत्तियां हैं। वे कर्म द्वारा प्रभावित होती हैं। कर्म आठ हैं। उन सबमें 'मोह' प्रधान है। उसके दो कार्य हैं–तत्त्व-दृष्टि या श्रद्धा को विकृत करना और चारित्र को विकृत करना। दृष्टि को विकृत बनाने वाले पुद्‌गल 'दृष्टि मोह' और चारित्र को विकृत बनाने वाले पुद्‌गल 'चारित्र मोह' कहलाते हैं। चारित्र मोह के द्वारा प्राणी में विविध मनोवृत्तियां बनती हैं, जैसे-भय, घृणा, हंसी, सुख, कामना, संग्रह, झगड़ालूपन, भोगासक्ति, यौन-संबंध आदि-आदि। आज का मनोविज्ञान इन्हें स्वाभाविक मनोवृत्तियां कहता है।

तीन एषणाएं–१. मैं जीवित रहूं, २. धन बढ़े, ३. परिवार बढ़े और तीन प्रधान मनोवृत्तियां–१. सुख की इच्छा, २. किसी वस्तु को पसंद करना या उससे घृणा करना, ३. विजयाकांक्षा अथवा नया काम करने की भावना। ये सभी चारित्र मोह द्वारा सृष्ट होते हैं। चारित्र मोह परिस्थितियों द्वारा उत्तेजित होता है अथवा परिस्थितियों से उत्तेजित हुए बिना ही प्राणियों में भावना या अंतःक्षोभ पैदा करता है, जैसे–क्रोध, मान, माया, लोभ आदि। मोह के सिवाय शेष कर्म आत्मशक्तियों को आवृत करते हैं, विकृत नहीं।

१. आहार संज्ञा–खाने की आसक्ति वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। यह मूल कारण है। इसको उत्तेजित करने वाले तीन गौण कारण और हैं– १. रिक्त-कोष्ठता २. आहार के दर्शन आदि से उत्पन्न मति ३. आहार संबंधी चिंतन।

२. भय संज्ञा–भय की वृत्ति मोहकर्म के उदय से बनती है। भय की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं–१. हीनसत्वता २. भय के दर्शन आदि से उत्पन्न मति ३. भय संबंधी चिंतन।

३. मैथुन संज्ञा–मैथुन की वृत्ति मोहकर्म के उदय से बनती है। मैथुन की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं–१. मांस और रक्त का उपचय। २. मैथुन संबंधी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति ३. मैथुन संबंधी चिंतन।

---

१. ठाणं १०/१०५

२. भगवई, २/१४

३. नंदी, सूत्र ६१

४. परिग्रह संज्ञा–परिग्रह की वृत्ति मोह कर्म के उदय से बनती है। परिग्रह की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं–१. अविमुक्तता २. परिग्रह संबंधी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति ३. परिग्रह संबंधी चिंतन।[१]

इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ–ये सभी वृत्तियां मोह से बनती हैं। वीतराग आत्मा में ये वृत्तियां नहीं होतीं। ये आत्मा के सहज गुण नहीं, किंतु मोह के योग से होने वाले विकार हैं।

ओघ संज्ञा–अनुकरण की प्रवृत्ति अथवा अव्यक्त चेतना या सामान्य उपयोग, जैसे–लताएं वृक्ष पर चढ़ती हैं, यह वृक्षारोहण का ज्ञान 'ओघ-संज्ञा' है।[२]

ज्ञान का प्रथम स्रोत इन्द्रिय और दूसरा स्रोत अनिन्द्रिय है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है। इसलिए उस ज्ञान की संज्ञा इन्द्रिय निमित्त है।

अनिन्द्रिय का अर्थ है मन। उससे होने वाले ज्ञान की संज्ञा अनिन्द्रिय निमित्त है। मनोवृत्ति और मनोविज्ञान इसकी अपर संज्ञा है।

ओघ ज्ञान अनिन्द्रिय निमित्तक ज्ञान नहीं है, उसकी उत्पत्ति में इन्द्रिय और मन दोनों निमित्त नहीं बनते। वह केवल मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है।

लोक संज्ञा–लौकिक कल्पनाएं अथवा व्यक्त चेतना का विशेष उपयोग है।

आचारांग निर्युक्ति में चौदह प्रकार की संज्ञाओं का उल्लेख मिलता है–१. आहार संज्ञा २. भय संज्ञा ३. परिग्रह संज्ञा ४. मैथुन संज्ञा ५. सुख-दुःख संज्ञा ६. मोह संज्ञा ७. विचिकित्सा संज्ञा ८. क्रोध संज्ञा ९. मान संज्ञा १०. माया संज्ञा ११. लोभ संज्ञा १२. शोक संज्ञा १३. लोक संज्ञा १४. धर्म संज्ञा।[३]

ये संज्ञाएं एकेन्द्रिय जीवों से लेकर समनस्क पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों में होती हैं।

संवेदन दो प्रकार का होता है–इन्द्रिय संवेदन और आवेग। इन्द्रिय संवेदन दो प्रकार का होता है–१. सात संवदेन–सुखानुभूति। २. असात संवदेन–दुःखानुभूति।[४]

आवेग दो प्रकार का होते हैं–कषाय और नो-कषाय।[५]

कषाय

इसका अर्थ है–आत्मा को रंगने वाली वृत्तियां–क्रोध, मान, माया, लोभ। ये तीव्र आवेग हैं। इनकी उत्पत्ति सहेतुक और निर्हेतुक–दोनों प्रकार की होती है। जिस व्यक्ति ने प्रिय वस्तु

१. ठाणं, ४। ५७९–५८२

२. तत्त्वार्थ सूत्र १। १४, भाष्यानुसारिणी टीका, ७९ : ओघज्ञानम्–ओघः सामान्यम् अप्रविभक्तरूपं यत्र न स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि तानि मनोनिमित्तमाश्रयन्ते, केवलं मत्यावरणीयक्षयोपशम एव तस्य ज्ञानस्योत्पतौ निमित्तम्, यथा वल्ल्यादीनां नीव्राद्यभिसर्पणज्ञानं न स्पर्शननिमित्तं, न मनोनिमित्तमिति, तस्मात् तत्र मत्यज्ञानावरणक्षयोपशम एव केवलं निमित्तीक्रियते ओघज्ञानस्य।

३. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा ३५

४. पन्नवणा, पद ३

५. वही, पद २३।३४

का वियोग किया, करता है, करने वाला है, उसे देख क्रोध उभर आता है। वह सहेतुक क्रोध है।[१] किसी बाहरी निमित्त के बिना केवल क्रोध वेदनीय पुद्‌गलों के प्रभाव से क्रोध उत्पन्न होता है, वह निर्हेतुक है।[२]

नो-कषाय

इसका अर्थ है–कषाय को उत्तेजित करने वाली वृत्तियां–हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, घृणा, स्त्री वेद (स्त्री संबंधी अभिलाषा), पुरुष वेद, नपुंसक वेद।

कई आवेग 'संज्ञा' में वर्गीकृत हैं और कई उनसे भिन्न हैं। ये सामान्य आवेग हैं। इनमें से हास्य आदि की उत्पत्ति सकारण और अकारण–दोनों प्रकार की होती है। एक समय में एक ज्ञान और एक संवेदन होता है। समय की सूक्ष्मता से भिन्न-भिन्न संवेदनों के क्रम का पता नहीं चलता, किंतु दो भिन्न काल में होते हैं।

उपयोग के दो प्रकार

चेतना दो प्रकार की होती है–साकार और अनाकार।[३] वस्तुमात्र को जानने वाली चेतना अनाकार और उसकी विविध परिणतियों को जानने वाली चेतना साकार होती है। चेतना के ये दो रूप उसके स्वभाव की दृष्टि से नहीं, किंतु विषय ग्रहण की दृष्टि से बनते हैं। हम पहले अभेद, स्थूल रूप या अवयवी को जानते हैं, फिर भेदों को, सूक्ष्म रूपों या अवयवों को जानते हैं। अभेदग्राही चेतना में आकार, विकल्प या विशेष नहीं होते, इसलिए वह अनाकार या दर्शन कहलाती है। भेदग्राही चेतना में आकार, विकल्प या विशेष होते हैं, इसलिए उसका नाम साकार या ज्ञान होता है।

अव्यक्त और व्यक्त चेतना

अनावृत चेतना व्यक्त ही होती है। आवृत चेतना दोनों प्रकार की होती है–मन रहित इन्द्रिय ज्ञान अव्यक्त होता है और मानस ज्ञान व्यक्त। सुप्त, मूर्च्छित आदि दशाओं में मन का ज्ञान भी अव्यक्त होता है, चंचल दशा में वह अर्ध व्यक्त भी होता है।

अव्यक्त चेतना को अध्यवसाय, परिणाम आदि कहा जाता है। अर्ध व्यक्त चेतना का नाम है–हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा।[४] यह दो इन्द्रियों वाले जीवों से लेकर अगर्भज पंचेन्द्रिय जीवों में होती है। इसके द्वारा उनमें इष्ट-अनिष्ट की प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। व्यक्त मन के बिना भी इन प्राणियों में सम्मुख आना, वापस लौटना, सिकुड़ना, फैलना, बोलना, करना और दौड़ना आदि-आदि प्रवृत्तियां होती हैं।[५]

---

१. ठाणं, १०/७

२. प्रज्ञापना वृत्ति, पत्र १४ : अपइट्ठिए कोहे–निरालंबन एव केवलक्रोधवेदनीयोदयादुपजायेत।

३. पन्नवणा, पद २८।

४. नंदी, सूत्र ६३ : हेऊवएसेणं–जस्स णं अत्थि अभिसंधारणपुव्विया करणसत्ती–से णं सण्णीति लब्भइ।

५. दसवेआलियं, ४। ९ : जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं, पडिक्कंतं, संकुचियं, पसारियं, रुयं, भंतं, तसियं, पलाइयं, आगइ-गइ-विन्नाया।

गर्भज पंचेन्द्रिय जीवों में दीर्घकालिकी संज्ञा या मन होता है। वे त्रैकालिक और आलोचनात्मक विचार कर सकते हैं।

सत्य की श्रद्धा या सत्य का आग्रह रखने वालों में सम्यक् दृष्टि संज्ञा होती है। मानसिक ज्ञान का यथार्थ और पूर्ण विकास इन्हीं में होता है।

मानसिक विकास

मानसिक विकास के चार रूप हैं–

१. औत्पत्तिकी बुद्धि–प्रतिभा या सहज बुद्धि।

२. वैनयिकी बुद्धि–शैक्षणिक अभ्यास तथा अनुशासन या गुरु शुश्रूषा से उत्पन्न बुद्धि।

३. कार्मिकी बुद्धि–कार्य करते-करते अभ्यास से प्राप्त कौशल।

४. पारिणामिकी बुद्धि–आयु की परिपक्वता के साथ बढ़ने वाला अनुभव।

मानसिक विकास सब समनस्क प्राणियों में समान नहीं होता। उसमें अनंत गुण तरतमभाव रहता है। दो समनस्क व्यक्तियों का ज्ञान परस्पर अनंत गुण हीन और अनंतगुण अधिक हो सकता है। इसका कारण उनकी आंतरिक योग्यता–ज्ञानावरण के विलय का तारतम्य है।

बुद्धि का तरतमभाव

जिसमें शिक्षात्मक और क्रियात्मक अर्थ को ग्रहण करने की क्षमता होती है, वह 'समनस्क' होता है।[१] बुद्धि समनस्कों में ही होती है। उसके सात प्रधान अंग हैं–१. ग्रहण शक्ति २. विमर्श शक्ति ३. निर्णय शक्ति ४. धारणा शक्ति[२] ५. स्मृति शक्ति ६. विश्लेषण शक्ति ७. कल्पना शक्ति।[३]

मन का शारीरिक ज्ञान तंतु के केन्द्रों के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। ज्ञान तंतु प्रौढ़ नहीं बनते, तब तक बौद्धिक विकास पूरा नहीं होता। जैसे शक्ति प्रयोग के लिए शारीरिक विकास अपेक्षित होता है, वैसे ही बौद्धिक विकास के लिए ज्ञान तंतुओं की प्रौढ़ता अपेक्षित होती है। बौद्धिक विकास सोलह वर्ष तक पूरा होता है। बाद में साधारणतया बौद्धिक विकास नहीं होता, केवल जानकारी बढ़ती है।

बुद्धि शक्ति सबकी समान नहीं होती। उसमें विचित्र न्यूनाधिक्य होता है। विचित्रता का कारण अपना-अपना आवरण विलय होता है। सब विचित्रताएं बताई नहीं जा सकतीं। उसके वर्गीकृत रूप बारह हैं, जो प्रत्येक बुद्धि शक्ति के साथ संबंध रखते हैं–१. बहु ग्रहण २. अल्प ग्रहण ३. बहुविध ग्रहण ४. अल्पविध ग्रहण ५. क्षिप्र ग्रहण ६. चिर ग्रहण ७. निश्रित ग्रहण ८. अनिश्रित ग्रहण ९. संदिग्ध ग्रहण १०. असंदिग्ध ग्रहण ११. ध्रुव ग्रहण १२. अध्रुव ग्रहण।

---

१. तत्त्वार्थसार, ९३ः यो हि शिक्षाक्रियात्मार्थग्राही संज्ञी स उच्यते।

२. तत्त्वार्थसूत्र, १/१५

३. वही, १/१३

इसी प्रकार विमर्श, निर्णय आदि के भी ये रूप बनते हैं। अवस्था के साथ बुद्धि का संबंध नहीं है। वृद्ध, युवा और बालक–ये भेद अवस्थाकृत हैं, बुद्धिकृत नहीं। जैसा कि आचार्य जिनसेन ने लिखा है[१]–

वर्षीयांसौ यवीयांस, इति भेदो वयस्कृतः।
न बोधवृद्धिर्वार्धक्ये, न यून्यपचयो धियः॥

तुलना–फ्रेंच मनोवैज्ञानिक आल्फ्रेड बीने की बुद्धि माप की प्रणाली के अनुसार सात वर्ष का बच्चा जो एक से बीस तक गिनने में असमर्थ है, छह वर्ष की उम्र के बच्चों के निमित्त बनाए गए प्रश्नों का सही उत्तर दे सकता है, इसलिए उसकी बौद्धिक उम्र छह वर्ष की मानी जाएगी। इसके प्रतिकूल सात वर्ष की उम्र वाला बच्चा नौ वर्ष के बच्चों के लिए बनाए गए प्रश्नों के उत्तर दे सके तो उसकी बौद्धिक उम्र अवश्य ही नौ वर्ष की आंकी जाएगी।

मानसिक योग्यता के तत्त्व

मानसिक योग्यता या क्रियात्मक मन के चार तत्त्व हैं–

१. बुद्धि[२]–इन्द्रिय और अर्थ के सहारे होनेवाला मानसिक ज्ञान।

२. उत्साह–कार्यक्षमता की योग्यता में बाधा डालनेवाले कर्म पुद्गल के विलय से उत्पन्न सामर्थ्य।

३. उद्योग–क्रियाशीलता।

४. भावना–पर-प्रभावित दशा।

बुद्धि का कार्य है विचार करना, सोचना, समझना, कल्पना करना, स्मृति, पहचान, नये विचारों का उत्पादन, अनुमान करना आदि-आदि।

उत्साह का कार्य है–आवेश, स्फूर्ति या सामर्थ्य उत्पन्न करना।

उद्योग का कार्य है–सामर्थ्य का कार्यरूप में परिणमन।

भावना का कार्य है–तन्मयता उत्पन्न करना।

चेतना की विभिन्न प्रवृत्तियां

चेतना का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी सर्वमान्य दो प्रवृत्तियां हैं–इन्द्रिय और मन। इन्द्रिय ज्ञान वार्तमानिक और अनालोचनात्मक होता है, इसलिए उसकी प्रवृत्तियां बहुमुखी नहीं होतीं। मन का ज्ञान त्रैकालिक और आलोचनात्मक होता है, इसलिए उसकी अनेक अवस्थाएं बनती हैं–

---

१. महापुराण, १८।११८

२. इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिर्ज्ञानं त्वागमपूर्वकम्।
सदनुष्ठानवच्चैतद् असंमोहोऽभिधीयते॥
रत्नोपलम्भनज्ज्ञानं, तत् प्राप्त्यादि यथाक्रमम्।
इहोदाहरणं साधु ज्ञेयं बुध्यादिसिद्धये॥
रत्नोपलम्भ–इन्द्रिय और अर्थ के सहारे उत्पन्न होने वाली बुद्धि : जैसे–यह रत्न है। रत्न ज्ञान–आगम वर्णित रत्न के लक्षणों का ज्ञान। रत्न प्राप्ति–सम्यक् रूप में उसे ग्रहण करना।

संकल्प–बाह्य पदार्थों में ममकार।

विकल्प–हर्ष-विषाद का परिणाम–मैं सुखी हूं, मै दुःखी हूं आदि।

निदान–सुख के लिए उत्कृष्ट अभिलाषा या प्रार्थना।

स्मृति–दृष्ट, श्रुत और अनुभूत विषयों की याद।

जातिस्मृति–पूर्व जन्म की याद।

प्रत्यभिज्ञा–पहचान।

कल्पना–तर्क, अनुमान, भावना, कषाय, स्वप्न।

श्रद्धान–मानसिक रुचि।

लेश्या–मानसिक परिणाम।

ध्यान–मानसिक एकाग्रता आदि-आदि।

इनमें स्मृति, जातिस्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान–ये विशुद्ध ज्ञान की दशाएं हैं। शेष दशाएं कर्म के उदय या विलय से उत्पन्न होती हैं। संकल्प, विकल्प, निदान, कषाय और स्वप्न–ये मोह प्रभावित चेतना के चिंतन हैं। भावना, श्रद्धान, लेश्या और ध्यान–ये मोह प्रभावित चेतना में उत्पन्न होते हैं, तब असत् और मोह शून्य चेतना में उत्पन्न होते हैं, तब सत् बन जाते हैं।

स्वप्न-विज्ञान

फ्रॉयड के अनुसार स्वप्न मन में की हुई इच्छाओं के परिणाम हैं। जैन दृष्टि के अनुसार स्वप्न मोह कर्म और पूर्व संस्कार के उद्‌बोध के परिणाम हैं। वे यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार के होते हैं।[१] वे समाधि और असमाधि–इन दोनों के निमित्त बनते हैं,[२] किंतु वे मोह प्रभावित चैतन्य दशा में ही उत्पन्न होते हैं अन्यथा नहीं।[३]

स्वप्न ज्ञान का विषय पहले दृष्ट, श्रुत, अनुभूत वस्तु ही होता है।

स्वप्न अर्ध निद्रित दशा में आता है।[४] यह नींद का परिणाम नहीं, किंतु इसे नींद के साहचर्य की आवश्यकता होती है। जागृत दशा में जैसे वस्तु अनुसारी ज्ञान और कल्पना दोनों

१. (क) भगवई, १६/८१ , संवुडे भंते! सुविणं पासति? असंवुडे सुविणं पासति? संवुडासंवुडे सुविणं पासति। गोयमा! संवुडे वि सुविणं पासति, असंवुडे वि सुविणं पासति, संवुडासंवुडे वि सुविणं पासति। संवुडे सुविणं पासति अहातच्चं पासति। असवुंडे सुविणं पासति तहा वा तं होज्जा, अन्नहा वा तं होज्जा, संवुडासंवुडे सुविणं पासति, तहा वा तं होज्जा अण्णहा वा तं होज्जा।

(ख) दसाओ, ५ः सुमिणं दंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहातच्चं सुमिणं पासिताए।

२. भगवई, १६/७६ : कतिविहे णं भंते! सुविणदंसणे पण्णत्ते? गोयमा! पंचविहे सुविणदंसणे पण्णत्ते, तं जहा–अहातच्चे, पयाणे, चिंतासुविणे, तव्विवरीए, अव्वत्तदंसणे।

३. वही, १६/७६ : जयाचार्यकृत जोड़।

४. भगवई, १६/७७ : सुते णं भंतेत्ते! सुविणं पासति? जागरे सुविणं पासति? सुत्तजागरे सुविणं पासति? गोयमा! नो सुत्ते सुविणं पासति, नो जागरे सुविणं पासति, सुत्तजागरे सुविणं पासति।

होते हैं, वैसे ही स्वप्न दशा में भी अतीत की स्मृति, भविष्य की सत् कल्पना और असत् कल्पना–ये सब होते हैं। स्वप्न विज्ञान मानसिक ही होता है।

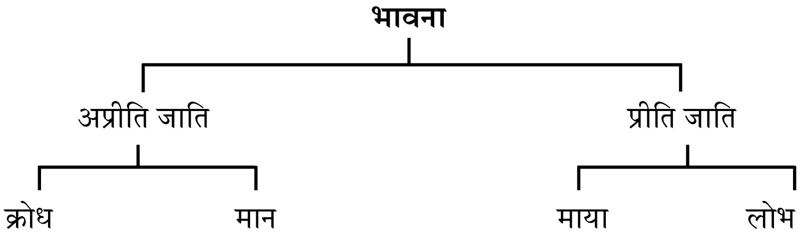

भावना की दो जातियां हैं–अप्रीति और प्रीति।

अप्रीति के दो भेद हैं–क्रोध और लोभ।

सामान्य दृष्टि से अप्रीति जाति के क्रोध और मान द्वेष हैं। सामान्य दृष्टि से प्रीति जाति की माया और लोभ राग हैं।

व्यवहार की दृष्टि से क्रोध और मान द्वेष हैं। दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए माया का प्रयोग होता है, वह भी द्वेष है। लोभ मूर्च्छात्मक है, इसलिए वह राग है।

ऋजुसूत्र की दृष्टि से क्रोध अप्रीतिरूप है, इसलिए द्वेष है। मान, माया और लोभ कदाचित् राग और कदाचित् द्वेष होते हैं। मान अहंकारोपयोगात्मक होता है, अपने बहुमान की भावना होती है, तब वह प्रीति की कोटि में जाकर राग बन जाता है और परगुणद्वेषोपयोगात्मक होता है, तब अप्रीति की कोटि में जा वही द्वेष बन जाता है। दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए माया और लोभ प्रयुक्त होते हैं, तब वे अप्रीति रूप बन द्वेष की कोटि में चले जाते हैं। अपने धन, शरीर आदि की सुरक्षा या पोषण के लिए प्रयुक्त होते हैं, तब वे मूर्च्छात्मक होने के कारण राग बन जाते हैं।

शाब्दिक दृष्टि से दो ही वृत्तियां हैं–लोभ या राग और क्रोध या द्वेष।

मान और माया जब स्वहित उपयोगात्मक होते हैं, तब मूर्च्छात्मक होने से लोभ और लोभ होने से राग बन जाते हैं। वे परोपघात उपयोगात्मक होते हैं, तब घृणात्मक होने से क्रोध और क्रोध होने से द्वेष बन जाते हैं।[१]

यह वैभाविक या मोह प्रभावित भावना का रूप है। मोहशून्य या स्वाभाविक भावना के सोलह प्रकार हैं–१. अनित्य चिंतन २. अशरण चिंतन ३. भव चिंतन ४. एकत्व चिंतन ५. अन्यत्व चिंतन ६. अशौच चिंतन ७. आस्रव चिंतन ९. निर्जरा चिंतन १०. धर्म चिंतन ११. लोक व्यवस्था चिंतन १२. बोधि दुर्लभता चिंतन १३. मैत्री चिंतन १४. प्रमोद चिंतन १५. कारुण्य चिंतन १६. माध्यस्थ्य चिंतन।[२]

---

१. आवश्यक, मलयगिरी वृत्ति पत्र ४९९, ५००

२. शांतसुधारस १/७।

श्रद्धान

श्रद्धा को विकृत करने वाले कर्म पुद्गल चेतना को प्रभावित करते हैं, तब तात्त्विक धारणाएं मिथ्या बन जाती हैं। असत्य का आग्रह या आग्रह के बिना भी असत्य की धारणाएं जो बनती हैं, वे सहज ही नहीं होतीं। केवल वातावरण से वे नहीं बनती। उनका मूल कारण श्रद्धा मोहक पुद्गल है। जिसकी चेतना इन पुद्गलों से प्रभावित नहीं होती, उनमें असत्य का आग्रह नहीं होता। यह स्थिति नैसर्गिक और शिक्षा लभ्य दोनों प्रकार की होती है।

लेश्या

हमारे कार्य विचारों के अनुरूप और विचार चारित्र को विकृत बनाने वाले पुद्गलों के प्रभाव और अप्रभाव के अनुरूप बनते हैं। कर्म पुद्गल हमारे कार्यों और विचारों को भीतर से प्रभावित करते हैं, तब बाहरी पुद्गल उनके सहयोगी बनते हैं। ये विविध रंग वाले होते हैं। कृष्ण, नील और कापोत–इन तीन रंगों वाले पुद्गल विचारों की अशुद्धि के निमित्त बनते हैं। तेजस्, पद्म और शुक्ल–ये तीन पुद्गल विचारों की शुद्धि में सहयोग देते हैं। पहले वर्ग के रंग विचारों की अशुद्धि के कारण बनते हैं, यह प्रधान बात नहीं है, किंतु चारित्र मोह प्रभावित विचारों के सहयोगी जो बनते हैं, वे कृष्ण, नील और कापोत रंग के पुद्गल ही होते हैं–प्रधान बात यह है। यही बात दूसरे वर्ग के रंगों के लिए है।

ध्यान

मन या वृत्तियों के केन्द्रीकरण की भी दो स्थितियां होती हैं–विभावोन्मुख और स्वभावोन्मुख।

प्रिय वस्तु का वियोग होने पर, फिर उसके संयोग के लिए, अप्रिय वस्तु का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए जो एकाग्रता होती है, वह व्यक्ति को आर्त्त-दुःखी बनाती है।

विषय-वासना की सामग्री के संरक्षण के लिए, हिंसा के लिए, असत्य के लिए तथा चौर्य के लिए जो एकाग्रता होती है, वह व्यक्ति को क्रूर बनाती है, इसलिए मन का यह केन्द्रीकरण विभावोन्मुख है।

सत्यासत्य विवेक के लिए, दोषमुक्ति के लिए तथा कर्ममुक्ति के लिए जो एकाग्रता होती है, वह व्यक्ति को आत्मनिष्ठ बनाती है, इसलिए मन का वह केन्द्रीकरण स्वभावोन्मुख है।